



॥ श्रीहरिः ॥

यज्ञोपवीत-मीमांसा



लेखक—

देवराखीतपुवाह पं० विश्वम्भरदत्त शास्त्री,

(गढ़वाल)

॥ ओ३म् ॥

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

कात्यायनस्मृति १ अ० ४ श्लो० ।

यज्ञोपवीत-मीमांसा

अर्थात्

यज्ञोपवीत पर होनेवाली समस्त शङ्काओं और आक्षेपों का बज्र समाधान ।

एवम्

यज्ञोपवीत की अथ से लेकर इति पर्य्यन्त समस्त प्रक्रिया का शास्त्र व विज्ञानसंयुत सुविशद विवरण ।

लेखक और प्रकाशक—

साहित्यनिधि पं० विश्वम्भरदत्त शास्त्री महोपदेशक

प्रथमवार २००० | सम्वत् १९८६ वि० सन् १९२९ ई० | मूल्य ।)

Printed by P. Brahmadeo Misra at the Brahma Press Etawah.

निवेदनम् ।

श्री रामदत्ततनयेन मया व्यधायि,
यज्ञोपवीतगुटिका महता श्रमेण ।
समीहता लोकहितं द्विजानां,
विशेषतो दुर्गतिमाकलय्य ॥ १ ॥

त्रुटिर्यदा स्यादिह काचनापि,
स्वभाव एषः खलु मानवीयः ।
निन्दन्तु चेत् कुमतयो नहि कापि हानि,
नंदन्तु चेत् सुकृतिनः कृतिनः कृतज्ञाः ॥ २ ॥

मुद्रातिसुन्दरचितौ बहुबोधतोऽस्यो,
जनः कथं तुष्यतु चेति चिन्ता ।
स्वान्तं सुशान्तं भवभूतिशब्दैः,
"कालो ह्ययं, निरवधिर्विपुला च पृथ्वी" ॥३॥

समर्प्यतेऽद्धा पितरं परेशं,
दिवङ्गतं साञ्जलि पूज्यपादम् ।
भूयात् प्रतुष्ट्यै मम चापि तुष्ट्यै,
हृष्ट्यै च पुष्ट्यै च सनातनस्य ॥४॥

षड्वसुग्रहेन्दुत्वे वैक्रमाब्दे गुरावथ,
तुलार्के दीपमालायामगात् सम्पूर्णतामिति ॥५॥

॥ शुभम्भूयादिति ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

दो शब्द ।

वास्तव में विचार दृष्टि से देखा जाय तो प्रस्तुत पु-स्तक ही अपनी भूमिका स्वयं आप है। पर इधर कुछ दिनों से भूमिका लिखने की कुछ प्रणाली सी चल पड़ी है। लोग पुस्तक हाथ में लेते ही उलट पलट कर भूमिका जोहने लगते हैं, न मिली तो नाक भौं सकोड़ अवहेलना व अनादरदृष्टि से पेश आते हैं सारा गुड़ गोबर होजाता हैं हमें पाठकों को अप्रसन्न नहीं करना है अतः उक्त प्रणाली की रक्षा के लिये भी दो शब्द लिखना आवश्यक होगया।

सन्तोष की बात है कि बहुत दिनों के बाद दुष्टनिकन्दन भवभञ्जन नन्दनन्दन श्री प्रभु की अपार कृपा से हृत्पटल पर बीजरूप से चिरसन्निहित व सञ्चित विचारों को कई एक विघ्न बाधाओं व असुवधाओं की भंवर में पड़कर आशा न रहने पर भी आज पल्लवित व पुष्पित कर पाया हूँ। अब से करीब ४ वर्ष प्रथम जब कि मैं श्री सनातनधर्म संस्कृत का-लेज लायलपुर में प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य करता था मेरे एक मित्र कर्मवीर स्वर्गीय पं० काशीराम बी०ए० ने तथा त्यागमूर्त्ति गो० गणेशदत्त जी महाराज प्रधान मन्त्री श्री स० ध० प्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने मुझे इस विषय-यज्ञोपवीत

मीमांसा के लिये प्रेरित किया था। इसी बीच उक्त मन्त्री महोदयके अनुरोध से प्रतिनिधि सभाके प्रोग्राम पर सिन्ध, बिलोचिस्तान व पञ्जाब आदि देशों में धर्मप्रचारार्थ भ्रमण करने के कारण इस शुभ संकल्प को कार्यरूप में परिणत न कर सका था।

यद्यपि मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध अवतार आदि स० ध० के समुज्वल सिद्धान्तों पर विद्वज्जनों ने कई पुस्तकें लिखीं पर हिन्दुत्व व द्विजत्व के परिचायक शिखा व सूत्र पर स० ध० जगत् में सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तक का अभाव मेरे चित्तमें खटकता ही रहा, जिसके लिये कि अब भी इच्छानुकूल समय व सामग्री न मिलने से किसी हद्तक सङ्कल्पानुरूप कार्य न होनेके कारण "मार्गस्थो नावसीदति" न्याय से सन्तोष धारण करना पड़ता है।

पुस्तक के आकार की बृहत्ता के भय से शिखा का अंश अभी छोड़ दिया है, यदि जनता ने इसे अपनाया तो दूसरे संस्करण में वह भी शामिल कर दिया जायगा। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि विधर्मियों ने सर्व प्रथम हमारे इन्हीं देवर्षि पितृकर्म आदि समस्त वैदिक कर्मकलाप के निष्पादक धार्मिक चिह्नों पर आक्रमण किये। महमूद और मुगलशाही तेज़ तलवार की धार सदियों तक म्यान से वाहर चमकती रही, ज़ालिम औरंगज़ेब के ज़ुल्म हम अभी तक नहीं भूले।

आज भी पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा के प्रभाव में पतित बहु-

तेरे अनभिज्ञ हिन्दू नवयुवक इन्हीं पर धड़ाधड़ हाथ साफ करते चले जारहे हैं।

धर्म के धनी वीर राजपूतों और मरहठों का " हतोवा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" वीरव्रत और धर्म की वेदी पर बलिदान इन्होंने भुला दिया। हा! हन्त!!

"तेहि नो दिवसा गताः"

प्रस्तुत पुस्तक पञ्जाब प्रान्त में प्रकाशित हो रही है अतः सिक्ख गुरुओं के जनेऊ के विषय में भी—जिनका कि मूलमन्त्र "तिलक जञ्जु राखा प्रभु ताँका" रहा—चर्चा करनी आवश्यक समझ कर—कर दी गई; जिसके लिये कि हम पं० मुन्शी राम जी लासानी ग्रन्थी के उपकृत हैं विद्यावाचस्पति पं० शालग्राम जी शास्त्री साहित्याचार्य प्रभृति विद्वत्पुङ्गवों का भी चिरकृतज्ञ हूँ जिनके एतद् विषयक लिखे उपयोगी उद्धरणों से पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई है।

श्रीमान् मेसर्ज़ डी० आर० सूरज बलराम जी शाहनी, पब्लिशर रावलपिण्डी का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ कि जिन्होंने पुस्तक की छपाई में प्रेस व पेपर सम्बन्धी समुचित परामर्श देकर मेरी सहायता की है।

काव्यतीर्थ पं० ब्रह्मदेव जी शास्त्री की कृपा का नितान्त आभारी हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक के प्रूफ़ संशोधन आदि मुद्रण के समस्त कार्य भार को अपने-ऊपर लेकर मेरी आशातीत सहायता की है।

ता० २५, २६, २७ अक्टूबर १६२६ ई० को रावलपिण्डी में पञ्जाब प्रान्तीय स० ध० युवक सम्मेलन के बृहत्पण्डाल में मैंने इस (शिखासूत्रधारण के) आशय का एक प्रस्ताव बा० गुरांदित्ता जी पेशावरी गवर्नमेण्ट पेन्शनर की प्रेरणा व सम्मेलन के प्रधान मंत्री जी के अनुरोध से पञ्जाब के नवयुवकों के सम्मुख पेश भी किया था जिसका अनुमोदन विद्यावागीश गो० यदुकुलभूषण जी शास्त्री महामहोपदेशक ने और प्रत्यनुमोदन ला० तिलकराम जी अग्रवाल कार्यालय मंत्री स० ध० प्रतिनिधि सभा पंजाब, ने किया और सर्वसम्मति से प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया था, इस लिये भी हमें पुस्तक को शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने की आवश्यकता पड़ी। हो सकता है कि उतावली में बहुत सी त्रुटियां भी रह गई हों— भाषापरिष्कृति व दुबारा विषयविवेचन भी न हो सका। विज्ञ पाठक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे।

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

विदुषां वशंवदः—

विश्वम्भरदत्त देवराणी।



यज्ञोपवीत-मीमांसा की—

विषय-सूची।

१—पूर्व किरण।

२—उत्तर किरण।

* शम् *

शुद्धाशुद्धपत्र ।

निवेदन के २ य श्लोक में "त्रुटिर्यदा' के स्थान में 'त्रुटिर्यदि' पढ़ें । भूमिका पृ० १ में पं० काशीराम के स्थान पर पं० बाशीराम पढ़ें ।

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	५	आया कहां से	आया हां कहांसे ?
४	२	समापति	सभापति
११	७	पति व बनावेंगी	पति न बनावेंगी
१२	१	अनयजों	अन्त्यजों
१२	५	कूड़ापन्थी	कूण्डापन्थी
१२	२२	प्रसङ्गानुगन	प्रसङ्गानुगत
१३	१३	स्वजातीय	सजातीय
१४	२१	कन्था	कन्या
१६	१८	यारी	नारी
"	"	विवहात्	विवाहात्
२३	४	इमं मंत्रं पठेत्	"इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्"
२५	१३	अर्थात् के आगे = ब्रह्मचर्य से = पढ़ें	
२८	६	में "चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः ॥ पढ़ें ।	
३१	१	अत्न्यावसायी	अन्त्यावसायी
३२	४	स्वाहा देकर	स्वाहा २ कर
६०	१५	करते हैं	करने हैं
"	१६	पिछग्गू	पिछलग्गू
"	"	बाकी	बावा
"	१७	जानी	जानो
६२	६	गात्धी	गान्धी

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
”	१५	रयिवार … …	रविवार
६५	१६	मूसापन्यी … …	मूसापन्थी
६६	२२	वग़ैरह … …	वग़ैरह २
७०	१४	लघणं … …	लवणं
”	२०	विक्रेश्त्वा … …	विक्रेयाः
७२	७	संध्या … …	सन्ध्या
७८	१३	यह नहीं … …	यही नहीं
११७	५	संस्था … …	संस्था
११८	१८	इष्टवाद … …	दृष्टवाद
१३४	६	शशिचक्र … …	राशिचक्र
१६३	१७	में जाती है के आगे-पण्डितों का उससे सम्बन्ध नहीं और पढ़ें ।	
१६५	६	स्वतन्न २ …	स्वतन्त्र २
”	१८	धर्म शिक्षा का-के आगे-जो-पढ़ें ।	
२०३	७	आचार्यवत्रसं	आचार्य वचसं ।
२०६	६	व्राह्मणः सह …	ब्राह्मणैः सह ।
२१०	८	लेवर … …	लेकर
”	१०	यथा … …	या
२१४	१	द्वादशात्माः …	द्वादशात्मा ।
”	५	आहित्य …	आदित्य ।

पृ० २२३ में 'अचिन्त्याः खलु, श्लो० का ब्र० सू० शं० भा० १-२७ पता समझें ।

॥ शुभमस्तु ॥

श्री गणेशाय नमः ।

यज्ञोपवीत मीमांसा.

पूर्वकिरण-प्रारम्भ ।

शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि ! चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब ! कृतार्थ सार्थवाहम् ॥ १ ॥
मौञ्ज्या मेखलया वीत मुपवीताजिनोत्तरम् ।
जटिलं वामनं वन्दे मायामाणवकं हरिम् ॥ २ ॥

दुनिया की दौड़ धूप में भारतीय भी सपाटे के साथ आगे बढ़ना चाहते थे, बड़े २ लीडरों और प्लीडरों की धुवांधार स्पीचिज़ हुईं, ब्रह्म समाज बना प्रार्थनासमाज देवसमाज और आर्यसमाज वगैरह २ का भी जन्म हुआ नये से नये कायदे कानून बने रिफार्मरों की टोलियों की टोलियां भारत भ्रमण करती नज़र आने लगीं एड़ी से चोटी तक जोर लगाया धर्मप्राण भारत को योरोप बनाने में बाकी कोई कसर न उठा रक्खी आखिर हुवा क्या ? वही-ढाक के तीन पात वाली बात ! हाँ ! ऐक्य के स्थानमें अनैक्य, समता में विषमता, समष्टि में व्यष्टि, उन्नति के बदले अवनति, उत्थान की जगह पतन फिरके बन्दी में २ तू २ ज़रूर होगई । "गई पूतको लेन

पतिहु खोइ आई" की कहावत चरितार्थ कर दिखाई। कुछ तो पहले ही बौद्ध और जैनों की—कौन कहे विधर्मी यवनगण और ईसा की मुक्ति फौज की—अनन्य कृपा हो चुकी थी, रही सही इन कृपानिधानों ने निवाही। अब रोते हैं संगठन! संगठन!! हम कहते हैं यह विघटन आया कहाँ से? विजातीय और चाहते ही क्या थे? सच तो यों है कि हिन्दुओं के जिन परमपावन तीर्थ मूर्त्ति और मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट एवं खण्डित करने के लिये यवन जन्तु सदियों तक दांत पीसते ही रहे, जिस पुराण प्रभृति प्राचीन साहित्य को स्वाहा करने लिये भगीरथ प्रयत्न करने पर भी कामयाबी का मुंह न देख पाये थे हत भाग्य हिन्दू जाति! उसी काम को पाये तकमील तक पहुँचाने के लिये आज तेरे ही में से तैयार हैं। "किं कुर्मः किं प्रतिब्रूमो गरदायां स्वमातरि"। ब्राह्मण पोप हैं, देवता चीज़ ही कोई नहीं, स्त्री का एक ही पति होना ज़रूरी नहीं, अवतार गप्प, श्राद्ध ढकोसला, हिन्दू नाम चोरका इत्यादि २ विधर्मियों के किये आक्षेपों और कटाक्षों को दुहराना ही उन के विचार से देश का उद्धार धर्म का प्रचार और जाति का सुधार है। इसे हिन्दू जाति का मंदभाग्य कहें या विधर्मियों का विजय मानें अथवा कुटिल कलिकालकी कराल गति कहें!

ये वे ही बातें हैं जिनके पीछे हल्दी घाट और पानीपत के मैदानों में धर्म के धनी राजपूतों ने वीर रस की वृष्टि मचा दी थी। भारतप्रताप महाराणा प्रताप वर्षों तक जंग-

लों की ख़ाक छानते रहे; छत्रपति शिवाजी मरहठा की विजय बैजयन्ती भारत गगन में फहराई, वीर गोविन्दसिंह और बन्दा बैरागी ने सर्वस्व न्योछावर कर दिया, सती पद्मिनी और बालक हकीकत जान पर खेल गये। "हर २ महादेव" के नारे के साथ 'शिर जावे तो जावे मेरा हिन्दू धर्म ना जावे' की गूंज अटक से कटक और हिमालय से कन्याकुमारी तक व्याप्त थी। पर क्या! आज भारतीय इतने कृतघ्न और किं कर्त्तव्य मूढ़ होगये हैं कि इन वीर महात्माओं की कुर्बानियों की क़दर ही न करें ?।

आज धर्म शिक्षा और धर्म रक्षा विलीन होगई। स० ध० की ओर से धर्मरक्षा के लिये जो स्कूल-कालेज खुले भी हुए हैं वे प्रथम तो स० ध० की शिक्षा के प्रतिकूल हैं, दूसरे प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू है। इनसे धर्म की रक्षा तो क्या होगी ? हां नाश ज़रूर होगा, और परोक्षरूप से ईसाईयत का प्रचार एवं प्रसार भी होगा। इस प्रकार शिक्षित सनातन धर्माभिमानियों का भी धर्म विचारात्मक (Theoretical) ही रह गया। आचारात्मक (Prectical) तो कुछ और ही देखने में आता है चाहिये तो था 'आचारः प्रथमो धर्मः"।

आपने शिखासूत्र हीन ईसाई तो बहुत देखे होंगे पर शिखा सूत्र सम्पन्न ईसाई देखने हों तो मौजूदा अंग्रेज़ी स्कूलों में जा कर प्रायः हिन्दू मास्टर और हिन्दू लड़कों को देखिये ?

इनको शिक्षा कैसी दी गई है ? इस विषय में मुझे तो

लार्ड मैकाले के वे शब्द याद आते हैं जो कि उन्होंने १८३५ई० में 'कमिटी आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन" में समापति की हैसियत से कहे थे कि—

"English education would train up a class of persons, Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect,,

अर्थात्-अंग्रेजी शिक्षा द्वारा ऐसा एक मनुष्य दल तैयार होगा जो रक्त और रंग में तो हिन्दुस्तानी होगा लेकिन आचार, विचार खान, पान और रहन सहन में विल्कुल गैर हिन्दुस्तानी होगा ऐसाही इस समय दृष्टिगोचर हो भी रहा है।

भारतीय शिक्षा के प्रश्न को हल करते समय लार्ड मैकाले ने इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर कलम उठाई और अपने जीवनकाल में ही अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त करली। लार्ड महोदयकी इच्छानुसार आज भारत में ऐसे दुभाषियोंकी श्रेणी बन चुकी है जो कि भारतीय और योरोपियनों के बीच भाव प्रकाशन का काम देरही है इस प्रकार की श्रेणी पैदा करने में वर्तमान यूनिवर्सिटियों को काफी सफलता मिली है। सन् १८३६में लार्ड मैकाले ने अपने पिता को जो पत्र लिखा था उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उन्हें अपना उद्देश्य आँखों के सन्मुख सफल होता हुआ दीख पड़ता था आप अपने पिता को लिखते हैं।

"The effect of this education on Hindus is prodi-

gious. No Hindu who has received an English education ever remains sincerely attached to his religion: some continue to profess thmeselves pure deists and some embrace christianity. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single Idolator among the respectable class in Bengal thirty years hence."

अर्थात् इस शिक्षा का हिन्दुओं पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा है। जिस हिन्दू को यह शिक्षा मिली है वह हार्दिक भाव से अपने धर्म का उपासक नहीं रहा। कई नीति की दृष्टि से हिन्दु बने रहते हैं और कई सीधे ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते हैं मेरा सुदृढ़ विश्वास है कि यदि मेरे निर्दिष्ट मार्गानुसार शिक्षा चलती रही तो तीस साल के भीतर ही भीतर बङ्गालमें पढ़े लिखे लोगों में कोई भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा।

बात भी ठीक है, पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा में दीक्षित लोग पूरे योरोप की सभ्यता के दास बन चुके हैं। न तो इनके शिर पर चोटी रहती है न गले में जनेऊ ही। न इनको देव दर्शन सन्ध्या, पंचयज्ञ, षोडशसंस्कार, भगवत्पूजन चन्दनधारण, अतिथिसत्कार, उत्सव, पर्व, व्रत, तीर्थ इत्यादि पर श्रद्धा है और न विश्वास ही है,

बहुतेरे वाग्वीर वैरिस्टर विलायती वस्तुओं के एजेण्ट डाक्टर और साधारण इङ्गलिशज्ञ भी अपनी भाषा में वार्ता-

लाप करना, पुस्तक पढ़ना व अपनी भाषा में पत्र लिखना आदि अपमानजनक समझते हैं। उनके चाल चलन, आहार व्यवहार, भाषा भेष सभी विदेशी है। उनके नाम भी अंग्रेजी सभ्यता के ही अनुसार मिलेंगे के० पी० शर्मा, के० सी० गुप्ता, एन्० एन्० वर्मा इत्यादि।

कोटञ्च बूटं पतलूनकञ्च मुखे च धूम्रः सिगरेटकस्य। घड़ी छड़ी गन्धलवेण्डरञ्च जानन्ति सर्वे कुलधर्ममेवम्॥

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के भारत में श्रीगणेश करने का यश अपयश जो कुछ भी है लार्ड मैकाले को है। आपने सोचा था कि इस शिक्षा से भारतवासियों के मस्तिष्क पर आधिपत्य हो जायगा। वे अंग्रेजी रंग ढंग रीति रिवाज, वेष भूषा और बोल चाल, से प्रेम करने लगेंगे। इतना ही नहीं बल्कि अपने पूर्वजों को भूल जावेंगे। अपने धर्मको तिलाञ्जलि देदेंगे अपनी भाषा तथा अपने साहित्य को असभ्य लोगों का उद्गार समझ कर अनादर तथा घृणा की दृष्टि से देखेंगे। लार्ड मैकाले को अपने कार्य में कितनी सफलता हुई इसे देश भक्त लाला हरदयाल ने अपनी पुस्तिका "थाट्स आन एजुकेशन" में भले प्रकार प्रकट किया है। आप सर फ्रेडरिक हालिडे के "हाउस आफ़ कामन्स" में कहे गये निम्न वाक्य उद्धृत करते हैं।

The English education renders necessary a knowledge of the Bible and I may say a knowl edge of the doctrines of christianity. I believe there is more knowledge of the Bible in Hindu college of Calcutta than there is in my public school in England.

अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा में बाइबिल और ईसाई धर्म का ज्ञान आवश्यक है। कलकत्ता के हिन्दूकालेज में इङ्गलैण्ड के किसी भी पब्लिक स्कूल की अपेक्षा बाइबिल का ज्ञान अधिक पाया जाता है। इसी प्रकारण में ला० हरदयाल ने सर चार्ल्स ट्रैविलियन का निम्न उद्धरण दिया है।

Educated in the samy way, interested in the same object, engaged in the same pursuits with ourselves they become more English than Hindus just as the Roman Provincials become more Romans than Gauls or Italians. What is it that makes us what we are except living and conversing with English people and imbibing English thought and habits of mind. They do so, too. They daily converse with the best and wisest Englishmen through the medium of their in works and form perhaps a higher idea of our nation than if their inter-course with it were of a more personal kind,

अर्थात् हमारी भाँति शिक्षा प्राप्त कर हमारी ही प्रवृत्तियों

को जागृत कर और हमारे जैसे कामों में लगे रह कर हिन्दू हिन्दू नहीं रहते, पर भीतर से अंग्रेज ही वन जाते हैं। हम अंग्रेज इसी लिये तो हैं क्योंकि हम अंग्रेजों में रहते हैं उनसे बातचीत करते हैं और अंग्रेजी विचारों तथा चालचलन के अनुसार अपने जीवन को बनाते हैं। हिन्दू भी अब ऐसा ही करने लगे हैं। वे अच्छे से अच्छे अंग्रेजों के साथ उनकी लिखी पुस्तकों आदि द्वारा प्रति दिन परिचय पाते हैं और इस प्रकार "अपनेपन" को छोड़ कर हमारे अधिकाधिक निकट आते जाते हैं। इसी प्रकार इसके आगे यही ट्रैवलियन महोदय लिखते हैं कि अंग्रेजी साहित्य के द्वारा ज्यों २ भारतीयों का अंग्रेजों से परिचय बढ़ता जाता है त्यों २ वे अंग्रेजों को विदेशी समझना छोड़ कर उनके साथ सहयोग करने को उत्सुक होते जाते हैं। उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने के स्थान में उन्हें अपना रक्षक समझने लगते हैं। उनकी ऊंची से ऊंची अभिलाषा सब प्रकार से अंग्रेजों की नकल करने की रह जाती है।

यह सब कुछ किसी भारतीय का नहीं बलिक अंगरेजों का अपना लिखा हुवा है। हमारे देश में जो शिक्षापद्धति लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में चलाई गई थी उसका उद्देश्य उपरितन उद्धरणों से प्रकट है आज से एक शताब्दी पूर्व दूरदर्शी लार्ड मैकाले ने भारत में जिस दृश्य को देखने के लिये भविष्यवाणी की थी आज वह अक्षरशः सत्य दिखाई देरही है

यज्ञोपवीत और शिखा को ही लीजिये हम देखते हैं इन परमपुनीत धार्मिक चिन्हों के लिये जो अटल श्रद्धा और विश्वास एक गंवार हिन्दू के हृदय में है वह बी०ए० पास ग्रेजुएटमें नहीं ऐसे कुशिक्षित हिन्दुओं से तो जिनके कि धार्मिक भावों को कीड़े लग चुके हों हमें गंवार हिन्दू ही अच्छे लगते हैं। ये लोग अंगरेजी को ही विद्या और अंग्रेजों के सिवाय औरों को निरा नरपशु ही समझते हैं। परमपुनीत संस्कृतभाषा को तो उन्होंने मृतभाषा "Dead Languaeg,, नाम रख छोड़ा है। अपने आपको इस देश का आदिमनिवासी भी न समझ कर गैर हिन्दुओं की तरह विदेशी समझने लगे हैं। भारतीय होते हुए भी ऐसे मृत हो चुके हैं कि उनकी रगों में प्राचीन आर्यों का रक्त प्रवाहित ही नहीं होता। इस सारे अनर्थ का मूल वर्त्तमान पाश्चात्य शिक्षा के सिवाय और क्या हो सकता है।

लाहौर के क्रिश्चियन कालेज़ की प्रबन्धक क्रिश्चियन कमेटी ने लगातार छः वर्ष तक पानी की तरह लाखों रुपये बहाने पर एक भी हिन्दू ईसाई न होते देख-प्रिन्सिपल से पूछा तो बुद्धिमान् प्रिन्सिपल ने कहा था कि यह ठीक है कि मैं इन छः वर्षों में एक भी हिन्दू को जाहिरी तौर पर ईसाई न बना सका लेकिन कमेटी को यह भी याद रहे कि मेरे कालेज से जिसने शिक्षा पाई है वह यदि ईसाई नहीं तो हिन्दू भी नहीं रहा। इसी तरह रोमजातीय वाग्मिप्रधान सिसिरो जिस समय सि-

लिसिया का शासनकार्य समाप्त करके रोम नगरी में लौट आये तो उस समय उनके किसी विपक्षी पुरुष ने सेनेट सभा में कहा कि सिसिरो को एक पूरे प्रदेश का शासन भार मिलने पर भी उनसे कुछ करते नहीं बना एक भी तो युद्ध उन्होंने नहीं जीता और न एक भी तो शत्रु ही मारा इस कटाक्ष के उत्तर में विचारशील दूरदर्शी सिसिरो ने कहा "मैंने सिलिसिया में जो कुछ किया है उससे उस प्रदेश के लोग रोम को चिरकाल के लिये गुरुवत् मानेंगे अर्थात्–मैंने सिलिसिया में रोमीय भाषा लैटिन की शिक्षा के लिये १४० स्कूल स्थापित करा दिये हैं। जिसका फल यह होगा कि उन स्कूलों से निकले हुये शिक्षित पुरुष रोमीय मंत्र में ही दीक्षित हो कर रोम को ही अपना आदर्श करके मानेंगे" सेनेट सभा ने सिसिरो के इस युक्तियुक्त उत्तर का सन्मान किया।

यही बात वर्तमान अंग्रेजी स्कूलों के विषय में भी कही जा सकती है और यही तो कारण है कि हिन्दू धर्म के प्रत्येक सिद्धान्तमें इन नई रोशनी के रुस्तमों को नुक़्स ही नुक़्स नजर आते हैं। अपनी आंखों के सामने अपने प्राणप्रिय धर्म और धेनु मान मर्यादा मूर्त्ति और मन्दिरोंकी दुर्दशा देखकर तनिक भी तो लज्जित नहीं होते और न रगों में पूर्व पुरुषों का रुधिर ही जोश मारता है।

सच तो यों है जिस काम को महमूद और मुग़लशाही तेज तलवारकी धार न कर पाई थी वह इस शिक्षा पिशाचिनी

से स्वतः सिद्ध होरहा है। लोगों का अपने धर्म से विश्वास भाषा और भेष से भक्ति भाव दिन प्रतिदिन घटता चला जा रहा है।

यहां तक कि उन्नति के ठेकेदार चन्द एक नमस्ते बाबू कुछ दिनों से अपने मन में यह समझ बैठे हैं कि जबतक भारतीय महिलायें भी अपने कुल क्रमागत स्वभाव सिद्ध सती भाव को तिलाञ्जलि देकर अनेक पति व बनावेंगी; जब तक गोराङ्गनाओं की भांति पातिव्रत धर्म को छोड़कर पति के विरुद्ध कचहरियों में केश चला कर पेशियां नहीं भुगत लेतीं, यदवधि स्वभावसुलभ लज्जा का परित्याग कर हाथ से हाथ मिला बाजारों में सैर नहीं करतीं घर के चूल्हे चौके को छोड़ होटलों में बायस्कोप और थियेटरों में हिस्सा नहीं लेतीं तब तक भारत की उन्नति कैसे ?

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की कन्यायें जब तक भंगी चमार और म्लेच्छों की अर्द्धाङ्गिनियां नहीं बन जातीं और गोरी बीवियां अपने हास्य विनोद से बड़े २ महामहोपाध्यायों और बटु, शास्त्रियों के गृहाङ्गणों को धवलित नहीं कर डालतीं भंगी चमारों और स्त्री वर्ग के गले में यज्ञोपवीत युगुल नहीं डाल लेते—गौड़बिल और शारदा बिल प्रचलित नहीं हो लेते तब तक उन्हें चैन कहां, भारत की उन्नति कहां. जाति का सुधार और पतितों का उद्धार कैसे ?

इतना ही नहीं बल्कि जब तक बड़े २ तिलकधारी परम

वैष्णव द्विजवृन्द अन्त्यजों के साथ बैठे एक थाली में खाना नहीं खालेते प्रेम कैसे समझा जाय।

ठीक है-हम भी इन मिडिलची बाबुओंके साथ सहानुभूति रखते हैं और चाहते हैं कि स्त्री और शूद्र जाति की उन्नति हो और सच्ची उन्नति हो, पर हो तब न? जबकि ये कूड़ापन्थी लोग चुङ्गीखानों की नौकरियां शूद्रों के लिये छोड़ दें।

हमारी तरह डासन के बूटों को छोड़ स्वदेशी चमारों के जूतों को पहनें, सेफ्टी रेजर रख नाइयों की, विदेशी बूटों की शर्मा वर्मा बूट फैक्टरियां खोल चमारों की, क्लाथवाशिङ्ग फैक्टरियां खोल धोबियों की, तथा दूध माखन की जगह चाय विस्कुट चाव गूजरों की आमदनी को हड़प न करें। गौ के स्थान में कुत्ते पाल साहब बहादुर बनना छोड़ दें, विलायती कपड़े पहन कर भक्त कवीर की सन्तान जुलाहों के व्यवसाय को धक्का न पहुँचावें, फिर देखें शूद्रोंका उद्धार कैसे नहीं होता।

अर्द्धाङ्गिनियों को वायस्कोप थियेटरों और होटलों की हवा खिला लेडी न बना कर सती सावित्री व सीता के पवित्र पातिव्रत धर्म का उपदेश दें तथा विधवाओं की दलाली छोड़ दें तो स्त्री जाति का उद्धार क्यों कर न हो?

क्या अच्छा होता-वजाय स्त्री और शूद्र जाति के गले में कच्चे सूत के दो तागे डालकर उन्हें परचा देने के नमस्ते बाबू कृपा कर उन्हें अपने ही गले में रहने देते और अपना सुधार करते। रहा रोटी बेटी का प्रश्न, प्रसङ्गानुगत इस विषय में

इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि जिस किसी के साथ रोटी बेटी का व्यवहार कर लेना :न तो शास्त्रसिद्ध है और नाहीं लोक और इतिहास ही इसकी साक्षी देता है। ये बातें कोई खास उन्नति या प्रेम का कारण नहीं। यदि ऐसा ही होता तो इङ्गलैंण्ड और जर्मन के बीच-जो कि सह भोजी थे-नरसंहारकारी गत महासङ्ग्राम न मचता। सहभोज तो कुत्ते भी करते हैं पर क्या वे एक दूसरे को काट खाने के लिये बद-नाम नहीं ? समस्त योरोप की ही इस समय भीतरी दशा पर दृष्टिपात कीजिये। अरब के तो इतिहास के पन्ने के पन्ने लूट मार और खून ख़राबियों से ही रंगे पड़े हैं। हिन्दुओं में ही देख लीजिये, क्या अधम जयचन्द और भारत के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज का रोटी बेटी का सम्बन्ध न था ? कौरव और पाण्डव स्वजातीय और सहभोजी न थे ? जो लोग सह भोज के लिये तड़फते हैं-क्या उनमें ही घास पार्टी और मांस पार्टी, पण्डित पार्टी और बाबू पार्टी, दर्शनानन्द पार्टी और जांत पाँत तोड़क मण्डल नहीं ? अस्तु, हमें तो प्रकृत में स्त्री, शूद्र के उपनयन के विषय में विचार करना है। यह तो सिद्धा-न्त सिद्ध है कि स्त्री और शूद्र वर्ग का उपनयन-संस्कार लोक और शास्त्र दोनों से विरुद्ध है।

हम ही नहीं, बल्कि इस बात को तो आर्यसमाज के प्रव-र्त्तक स्वा० दयानन्द सरस्वती भी मानते थे। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में द्विज बालकों का उपनयन संस्कार

विधान कर कन्याओं के विषय में चुप साध गये। बल्कि सत्यार्थप्रकाश सन् १८७५ के पृ० ३८ में तो स्वामी जी ने इस विषय में अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में प्रकट करदी कि "कन्या लोगों का यज्ञोपवीत कभी न करना चाहिये" *

इसके अतिरिक्त आर्यसमाजी संस्कारों की विधायक एक मात्र "संस्कारविधि" पुस्तक में स्वामी जी ने गृह्यसूत्रों के बल पर जहां द्विज बालकों के उपनयन के लिये वर्ष, ऋतु, व्रत आदि का विधान किया वहां स्त्री और शूद्र के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। यदि उन्हें इनका उपनयन संस्कार अभीष्ट होता तो अवश्य ही द्विज बालकों की भान्ति इनके लिये भी उपनयन संस्कार की विधि व्रत व ऋतु आदि का विधान करते यह बात आगे शूद्रोपनयन निषेध प्रकरण में स्पष्ट भी की जायगी।

दुर्जनतोषन्याय से यदि कुछ देर के लिये कन्योपनयन मान भी लिया जाय तो उपनयन मानने वालों के पास पहले तो इसके लिये विधि ही कोई नहीं। यदि द्विज सन्तति के नाते से द्विज बालकों की उपनयन विधि ही द्विज कन्योपनयन

नोट—* इसी तरह संस्कारविधि में "उपवीतिनी" इस स्त्रीलिङ्ग परक गृह्यसूत्र के पद की भाषा करते हुए स्वामी जी ने 'जनेऊ की तरह वस्त्र डाली हुई कन्या' यह अर्थ किया है। यदि उन्हें कन्याओं का उपनयन ही अभीष्ट होता क्यों न जनेऊ वाली कन्या यह सीधा सा अर्थ कर डालते? न उन्होंने अपने जीवन में कन्योपनयन का प्रचार ही किया।

विधि मान ली जाय तो चूडाकर्म, दण्ड, कमण्डलु और कौ-पीन भी होनी चाहिये! नमस्ते बाबू भले ही ऐसा करने के लिये भी तैयार होजांय पर सभ्यता और धर्म इस बात की आज्ञा नहीं देता। धर्म तो यह कहता है कि—

"वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥

मनु० अ० २।

स्त्रियों का विवाह ही उपनयन संस्कार होता है, पति की सेवा करना ही गुरुकुल वास व गुरु सेवा है गृह प्रबन्ध ही अग्निहोत्र है-अर्थात् जैसे बालक उपनीत हो गुरुकुल में वास कर गुरुसेवा करता है वैसे ही कन्या विवाह द्वारा पतिकुलमें जा पतिसेवा करे, यही उसकी गुरुसेवा है। क्योंकि शास्त्रमें लिखा है कि-"पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्" स्त्रियोंके लिये पति ही एकमात्र गुरु है। जैसे ब्रह्मचारी गुरुकुलमें सायं,प्रातः समि-दाधान (अग्निहोत्र) करता है वैसे ही वह वधू पतिगृह में सायं प्रातः भोजन बना पति की तुष्टि करे। यही उसका अग्न्याधान है।

भेद केवल इतना ही है कि कन्यायें ८ वर्ष से १२ वर्ष की आयु तक जैसे कि मन्वादि धर्म शास्त्रों में लिखा भी है-विवा-ह द्वारा पति कुल में जाती हुई पितृकुल के गोत्र को छोड़ जाती हैं लेकिन द्विजाति बालक इन्हीं ८ से १२ वर्ष तक की

अवस्था में उपनीत हो गुरुकुल में जाते हुये गोत्र नहीं छोड़ते। इस बात के द्योतक विवाह और उपनयन शब्द ही पर्याप्त हैं। "विशेषेण गोत्रच्युतिपूर्वकम् ऊह्यते वरद्वारा कन्या यत्रासौ विवाहः" गोत्रत्याग (१) पूर्वक जिस कर्ममें वर द्वारा कन्या बरी जाय उसे विवाह कहते हैं। और "उप गुरोः समीपे सामान्यतया नीयते नयति वा वेदाध्ययनार्थं यत्र येन कर्मणा (उप + नी + ल्युट्।) वटुरित्युपनयनम्" अर्थात् जिस कर्म में गोत्र त्याग न करते हुए बालक को वेदाध्ययनार्थ उपनीत कर गुरुके पास ले जाया जावे उसे उपनयन (२) कहते हैं।

प्राचीन काल में द्विजाति अपने पुत्र और पुत्रियों को ८ से १२ वर्ष की आयु तक इस प्रकार गुरुकुल और पतिकुल में भेज दिया करते थे।

कन्याओं की पितृकुल से पति कुल में जाने की इस प्रक्रिया को विवाह और बालकों के पितृकुल से गुरुकुल में जाने की इस प्रक्रिया को उपनयन कहते हैं। बातें दोनों एक सी हैं सिर्फ गोत्र के छोड़ने न छोड़ने का सवाल है इसी लिये नाम भेद भी है लेकिन ८ से १२ वर्ष तक की आयु दोनों के

नोट १--स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवहात् सप्तमे पदे।
स्वामिगोत्रेण कर्त्तव्यास्तस्याः पिण्डोदकक्रियाः।

यमस्मृति ७८ श्लोक॥ लिखित स्मृति २६ श्लो०।

नोट २—"उपोऽधिके च" पाणिनि के इस सूत्र में उप उपसर्ग इस अर्थ (न्यूनार्थ) का अभिव्यञ्जक है।

लिये एक जैसी रक्खी है। सद्गृहस्थ पिता इस प्रकार ८ वर्ष तक अपनी सन्तान का चाहे पुत्र हो या पुत्री-लालन पालन कर बाद इसके उन्हें गुरुदेव व पतिदेव के समर्पण कर दिया करते थे? पतिकुल में पहुँच कन्या के सास श्वशुर माता पिता के सदृश और गुरुकुल में बालक के मातृ पितृ स्थानीय सावित्री मन्त्र और आचार्य होते हैं।

कन्या के पिता से कन्या को उद्वहन करते हुए पति और पुत्र को उपनीत करते हुये आचार्य विवाह और उपनयन में भविष्य में अनुकूलवर्ती होने की प्रतिज्ञायें लेते हैं।

कन्याओं का उपनयन-स्थानापन्न विवाह ही एक ऐसा संस्कार है जो कि नामकरणादि संस्कारों की भांति अमंत्रक न होकर बालकों के उपनयन की तरह समंत्रक होता है। क्योंकि कन्या के नाम का आगे चल कर विवाह काल में तबदील होजाना सम्भव है लेकिन विवाह जिसके साथ एक बार होजाय फिर वह तबदील नहीं हो सकता इसी लिये समंत्रक होता है। वेदमन्त्रों की अग्निदेव के साक्षित्व में पक्की मोहर लग जाती है। फिर वह सम्बंध आजन्म छूट नहीं सकता। हमारे धर्म ग्रन्थों में लिखा है कि—

"नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियः।
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो द्विज ॥

। १५ । व्यासस्मृ० अ० १

कर्णवेध पर्यन्त नौ संस्कार हैं वे स्त्री के विना मंत्रों के होते हैं। लेकिन विवाह स्त्री का भी मन्त्रों से होता है और शूद्र के ये दशों संस्कार (यानी कर्णवेध पर्यन्त ६ और १० वां विवाह) विना वेद मंत्रों के होने चाहिये। याज्ञवल्क्य स्मृति १। १३। में लिखा है कि—

"तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः।

कन्याओं के जातकर्मादि संस्कार वेद मंत्रों के विना नाम मंत्रों से होने चाहिये परंतु विवाह कन्याओं का भी वेदमंत्रोच्चारण पूर्वक ही हो, इतने अंश में अपवाद है।

यही बात वृ० वि० अ० २६ में भी कही है कि-एता एव क्रियाः स्त्रीणाममंत्रकाः ।१३। तासां समंत्रको विवाहः ॥ १४ ॥ इस लिये विवाह संस्कार ही कन्याओं के लिये उपनयन है उन्हें पृथक् उपनयन की आवश्यकता नहीं। जब कि इस पुनीत (विवाह) संस्कार द्वारा स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी बन जाती है तो पुरुष के संस्कृत होने पर वह स्वयं भी संस्कृत मानी गई है।

सहधर्मिणी होने के नाते से पुरुष के प्रत्येक काम में स्त्री का हिस्सा होता है। लोक प्रत्यक्ष है कि पुरुष जिस पदवी को चिरकालके उग्र परिश्रम से प्राप्त करता है एक साधारण कन्या उस पदवी से भूषित पुरुष के साथ व्याहे जाने पर उस पदवी को अनायास ही हासिल कर लेती है। मास्टर जी की स्त्री मास्टरानी, पण्डित जी की स्त्री पण्डितानी, चौधरी की

चौधरानी, राजा की रानी, सेठ की सेठानी-कहलाती है। सन्तान भी कन्या की उसी पुरुष के गोत्र या जाति की होती है जिसके साथ कि उसका पाणिग्रहण हुवा हो। क्योंकि विवाह संस्कार द्वारा अपनापन छोड़ पतिमें तादात्म्य भावको प्राप्त कर पतिके ही गोत्रमें शामिल हो जाती है उसके और्ध्व-दैहिक कर्म भी पति के ही गोत्रसे होते हैं (१) जबकि मनसा, वाचा कर्मणा, सर्वतोभावेन पति में लीन होगई तो उसके पृथक् गोत्र पृथक् जाति और पृथक् संस्कारों की आवश्यकता ही नहीं रहती। जो कुछ और जैसा पुरुष हो वैसी ही होजाती है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में वहने वाली नाना नाम वाली नदियां समुद्र में पहुँच 'समुद्र' यह एक नाम और एक रूप होजाती हैं। नदियों और नारियों की यह एक सी बात है। अस्तु—

नोट (१)—"अनूढ़ा न पृथक्कन्या पिण्डे गोत्रे च सूतके।
पाणिग्रहणमन्त्राभ्यां स्वगोत्राद् भ्रश्यते ततः॥ ८७॥
विवाहे चैव संवृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु।
एकत्वं सा व्रजेद् भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके॥ ८६॥ यमस्मृति।
लिखित स्मृ० २५ श्लो०

जिस कन्या का विवाह न हुआ हो उसका पिण्ड, गोत्र सूतक अलग नहीं होता, विवाह हो जाने पर विवाह के मन्त्रों से अपने गोत्र से वह अलग हो जाती है। ८४। विवाह के हो जाने पर वह कन्या चौथे दिन (चतुर्थी कर्म) की रात्रि में पिण्ड गोत्र और सूतक में पति की समानता को प्राप्त होजाती है॥ ८६॥

स्त्रियों का उपनयन इसलिये भी उचित नहीं जान पड़ता कि उनका स्त्रीपन उन्हें प्रायः अपवित्र दशा में रखने के लिये मज़बूर करता है। जिससे कि यज्ञोपवीतके नियमों का पालन करना उनके लिये कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव होजाता है। प्रतिमास रजस्वला होने पर प्रसवकाल में तथा हर समय नवजात शिशुओं के मलमूत्र में ही माता का समय व्यतीत होता है। माता के जिस वक्षः स्थल पर परमपुनीत ब्रह्मसूत्र को लटकाना चाहते हो वह तो धूलिधूसरित मलमूत्र दिग्धाङ्ग नवजात शिशु का प्रतिदिन और रात स्तनपान के समय क्रीड़ा स्थल बना रहेगा। क्यों न वह उस डोरी के साथ कुतूहल के साथ कल्लोल करेगा। बताओ ? फिर पवित्रता कैसे ? फिर तो वही कवि कालिदास वाली बात ?

अणोरणीयान् महतो महीयान् कटिर्नितम्बश्च यदङ्गनायाः । तदङ्गहारिद्रविलिप्तमेतद् यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् ॥

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा । कान्तायाः कामसूत्राया ब्रह्मसूत्रं बिडम्बनम् ॥

किन्हीं पुस्तकों में "वैवाहिको विधिः स्त्रीणाम्" मनु के इस पूर्वोक्त श्लोक में "औपनायनिकः स्मृतः" इस पाठ के बदले "संस्कारो वैदिकः स्मृतः" यह भी पाठ देखने में आया है।

इस पर कई एक भद्र पुरुष अनूठे ही ढंग से अपना उल्लू सीधा करने की चेष्टा किया करते हैं उनका कहना है कि—

वैवाहिको विधिः, पतिसेवा, गुरौवासः, गृहार्थः, अग्नि परिक्रिया स्त्रीणां वैदिकः स्मृतः॥ अर्थात् विवाहविधि, पति-सेवा, गुरुकुलवास, गृहस्थाश्रम और अग्निहोत्र करना ये पांच बातें स्त्रियों की वैदिक हैं। इनसे कोई पूछे कि पति सेवादिक वैदिक हैं तो क्या गर्भाधानादि संस्कार अवैदिक हैं? इन ५ बातों को वैदिक कहने का मतलब क्या था? क्या इन पर अवैदिक होने की कुछ शंका हुई थी?

ऐसा मनगढ़न्त अर्थ तो मनुस्मृति के मेधातिथि आदि प्रसिद्ध सात टीकाकारों में से किसी ने भी नहीं किया। देखिये मनुस्मृति के इस श्लोक के इसी भिन्न पाठ पर प्रसिद्ध और प्रामाणिक टीकाकार कुल्लूक भट्ट क्या लिखते हैं।

"वैवाहिक इति विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कारः उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः। पतिसेवैव गुरुकुलवासो वेदाध्ययनरूपः। गृहकृत्यमेव सायं प्रातः समिद्धोमाग्निपरिचर्या। तस्माद् विवाहादेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिरिति। ६७॥ भावार्थ इसका जैसा कि हम पहले लिख आये हैं वैसा ही है। मेधातिथि आदि सब टीकाकारों ने कुल्लूकभट्ट के ही अनुसार इस श्लोक का अर्थ किया है। बल्कि आर्यसमाज के नेता व प्रसिद्ध पं० राजाराम शास्त्री

प्रो० डी० ए० वी० कालेज लाहौर भी इस श्लोक का अर्थ उपरोक्त टीका के ही अनुसार करते हैं कि "विवाह की विधि ही स्त्रियों का वेद का संस्कार (उपनयन) माना गया है, पति की सेवा ही गुरु के निकट वास है, घर का काम अग्नि की सेवा है। यह सब कुछ होते हुये भी पूर्वोक्त प्रकार से श्लोकार्थमें धींगाधांगी क्यों कीजाती है इस बातका दुःख है।

स्त्रियों का विवाह ही उपनयन है, इस कथन का रहस्य तो यह है कि स्त्रियों के भी पुरुषों की ही तरह सब संस्कार प्राप्त हुये इसके लिये जैसे कि पहले लिख चुके हैं कहा कि स्त्रियों के कर्णवेधान्त नौ संस्कार अमन्त्रक हों, फिर उपनयन भी प्राप्त हुवा उसका "वैवाहिको विधिः" वचन द्वारा स्पष्ट निषेध कर दिया।

रही पाठभेद की बात, सो "औपनायनिकः स्मृतः" यही पाठ उचित प्रतीत होता है क्योंकि इसकी पुष्टि में निम्नलिखित प्रकार से और भी पुष्कल प्रमाण हैं।

"वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः,,

बौधायन गृह्यसूत्र परिशिष्ट ॥ १ ॥ १३ ॥ १६ ॥

"उपायनोदितः कालः स्त्रीणामुद्वाहकर्मणि,,
स्त्रीणामुपनयनस्थाने विवाहं मनुरब्रवीत् ॥

व्याघ्रपाद।

विवाहं चोपनयनं स्त्रीणामाह पितामहः ।
तस्माद् गर्भाष्टमः श्रेष्ठः जन्मतो वाष्टवत्सरः ॥

माधवीये यमः ।

कई एक भद्रभावुक "इमं मन्त्रं पठेत्" इस गृह्यसूत्र के वचन से यज्ञादि कर्म में द्विजस्त्रियों को मन्त्र बोलने का अधिकार दिया गया है और बिना यज्ञोपवीत हुये किसी को मन्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं है इससे कन्याओंका यज्ञोपवीत सिद्ध होगया यह ख्याल करते हैं। प्रथम तो उन्हें यह याद रखना चाहिये कि यह वचन श्रौतसूत्र का है। जो कि इन्हें प्रमाण कोटि में स्वीकृत नहीं, यदि स्वीकृत करलें तो उसमें लिखित मूर्तिपूजा मृतपितरों का श्राद्ध आदि भी मानना पड़ेगा।

द्वितीय इस सूत्र में पत्नी को जिस मन्त्र के उच्चारण की आज्ञा है वह वेद का नहीं बल्कि सूत्रोक्त है। तृतीय यह सामान्यतया उत्सर्ग नियम है कि बिना यज्ञोपवीत के मन्त्र बोलने का अधिकार नहीं परन्तु, 'नापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते' व्याकरण के इस नियमानुसार जैसे अन्य समय अनुपनीत बालक को मन्त्रोच्चारण का निषेध रहने पर भी "नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते,, मनु० अ० २ श्लो० १७२। यज्ञोपवीत संस्कार होने से पहले यदि किसी बालक का पिता मर जाय तो अनुपनीत बालक भी पिता का पिण्डदानादि मन्त्र पढ़के करे यह मनु का अपवाद है, जैसे यज्ञोपवीत के

मन्त्र पढ़ने का यहां विशेषांश में अधिकार है वैसे ही स्त्री को यज्ञ में खास २ मन्त्र बोलने का अधिकार है सबका नहीं ।

मीमांसा के निषादस्थपति अधिकरण में जैसे विशेष २ स्थल पर शूद्रयाग है वैसे ही स्त्रियों के लिये वेदमन्त्र पढ़ना विशेषांश ही में है सर्वत्र नहीं ।

कई एक बुद्धिके भाण्डार "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" इस आधे मन्त्र को जो कि अथर्ववेद की कौथुमी शाखा का है और जिन शाखाओंको ऋषि प्रणीत होने से आर्यसमाज स्वतः प्रमाण नहीं मानता पेश कर यह सिद्ध करने की धृष्टता करते हैं कि यज्ञोपवीत लेकर कन्या ब्रह्मचर्याश्रममें रहे, तत्पश्चात् युवा पतिको प्राप्त हो । लेकिन यह उनकी निरी चालाकी है यदि इस मन्त्रका उत्तरार्द्ध भी पढ़ा जाय तो बात साफ होजाती है यथा–

"अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ अथर्व कां० सू० ७ अनु० ३ मं० १८ ।

जैसे बैल ब्रह्मचर्य रखता हुआ अपने स्वामी का कार्य करता है । घोड़ा ब्रह्मचर्य धारण करके ही घासकी इच्छा करता है कामान्ध होने पर वे अपने २ कार्यों को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार व्यभिचार दोष से दूषित न हुई कन्या ही युवापति को प्राप्त होती है ।

ब्रह्मचर्य नाम उपस्थेन्द्रिय निग्रह का है यज्ञोपवीत व आश्रम का नहीं जैसे बैल घोड़ों को कौपीन और यज्ञोपवीत

धारण कराकर समाजी ब्रह्मचारी नहीं बनाते इसी तरह स्त्रियों का भी यज्ञोपवीत नहीं हो सकता।

यदि ब्रह्मचर्य मात्र शब्दसे कन्यागुरुकुल खोल यज्ञोपवीत करा वेद की सम्मति देते हैं तो इन्हें चाहिये इसी प्रकार अन-ड्वान् गुरुकुल और अश्वगुरुकुल खोल बैल व घोड़ों को भी यज्ञोपवीत पहराय वेद पढ़ाने का प्रवन्ध करें।

वास्तव में यदि बुद्धि से काम लिया जाय तो प्रकृत मंत्र में कन्याओं के यज्ञोपवीत वेदाध्ययन, और ब्रह्मचर्याश्रम की बू तक भी नहीं, इसका सीधा साधा सा अर्थ है(कन्या)कुमारी (ब्रह्मचर्येण)ब्रह्मचर्यसे(युवानं)युवा (पति) पतिको(विन्दते,प्राप्त होती है यहां पर'युवानं' पति शब्द का विशेषण है और युवानं पद में ब्रह्मचर्य हेतु है इसी कारण 'ब्रह्मचर्येण' यह हेतु में तृ-तीया विभक्ति है अर्थात् युवा हुये पति को कन्या प्राप्त होती है यहाँ पर ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध'युवानं'पद से है न कि कन्या से 'जब,कि ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध कन्यासे है ही नहीं तब फिर जबरदस्ती ही कन्याके साथ में उसका सम्बन्ध करके प्रमाण में देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है।

कई नमस्ते बाबू निम्नलिखित श्लोक से पूर्वापर सम्बन्ध का पता किये बिना ही जगन्माता जानकी के यज्ञोपवीत का अनुसन्धान लगाते हैं। लंका में बहुत अन्वेषण करने पर भी जब कि हनुमान् जी को सीता माता के दर्शन न हुये तो यह श्लोक उन्हीं के श्री मुख का उद्गार है—

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥

वा० रा० सुन्दरकाण्ड १४ स०।

श्लोक में सन्ध्यार्थ श्री सीता जी के नदी तट पर आनेकी आशंसा वर्णित है जिससे कि यज्ञोपवीत का अनुमान लगाते हैं लेकिन इस सर्ग के पढ़ने से तो विदित होता है कि श्री सीता जी को स्वयं ही सन्ध्या का अवकाश नहीं इससे पूर्वतन श्लोकों में सीता जी के विशेषण "रामचिन्तासुकर्षिता" 'रामशोकाभिसन्तप्ता' 'रामदर्शनलालसाम्' इतश्चेतश्च दुःखार्ता सम्पतन्तीं यदृच्छया,, इत्यादि २ आये हैं ऐसी दशामें सन्ध्या कब सम्भव हो सकती है। प्रसिद्ध टीकाकार राम पण्डित ने भी सन्ध्या पदसे सन्ध्याकाल क्रियमाण स्नानादि लिया है।

"सन्ध्यार्थे सन्ध्याकालक्रियमाणस्नानाद्यर्थे रात्रिशेषे हनूमतोऽस्य वचसः प्रवृत्तेः सन्ध्या शब्देनात्र प्रातःकालो विवक्षितः। तत्र कर्तव्य स्नानादौ चास्त्येव स्त्रीणामप्यधिकार इति कथं स्त्रीणां सन्ध्यावन्दनमिति परास्तं वेदितव्यम्। किंच सम्यग् भगवद्ध्यानस्यैव सन्ध्यापदार्थत्वेनास्त्येव तत्र स्त्रीणामधिकारो

गायत्रीमन्त्रेण तदर्थस्मरणपूर्वकध्याने तु द्वि-
जस्यैवाधिकार इति ॥

अर्थात् सन्ध्यापद से यहां पर सन्ध्याकाल का स्नानादि विवक्षित है कुछ रात शेष रहने पर हनुमान् जी ने यह बात कही थी जिससे प्रातःकाल सिद्ध होता है उस समय के इति कर्तव्य स्नान ध्यान में स्त्रियों का भी अधिकार है और वही यहां पर विवक्षित है जो लोग स्त्रियों का भी सन्ध्यावन्दन समझते हैं वे गलती पर हैं बलिक सन्ध्यापद का अर्थ जो कि सम्यग् भगवद्ध्यान है उस में तो स्त्रियों का भी अधिकार है ही, गायत्री मन्त्र द्वारा अर्थ स्मरण पूर्वक ध्यान में तो द्विजमात्र का ही अधिकार है हां रही तान्त्रिकी सन्ध्या वह तो स्त्री शूद्रादि भी कर सकते हैं तान्त्रिकी सन्ध्या में तो जनेऊ का भी काम नहीं ।

बहुत से रंगीले 'पुराकल्पेषु नारीणां मौञ्जी बन्धनमिष्यते । वेदानाम्पठनञ्चैव सावित्रीवचनन्तथा ॥

इस कल्पित श्लोकको यमस्मृतिका बताकर स्त्रियों के यज्ञोपवीत और वेदपाठ सिद्ध करने का दुस्साहस करते हैं प्रकृत में यह श्लोक किसी नमस्ते बाबू की मनगढ़न्त हैं । जिस तरह ये लोग डोम भंगी चमारों को शर्मा वर्मा बनाने की करतूत रखते हैं और जैसे इनके गुरुघण्टाल स्वामी नियोगानन्द ने

अपने हत्यार्थप्रकाश नामक पोथे में वेदशास्त्रों की हत्या की पुराणों के नाम पर कई एक कल्पित कथायें गढ़ डालीं, कहीं पाठभेद, कहीं अर्थभेद तो कहीं प्रकरण भेद आदि ऊटपटांग मनमानी अठखेलियाँ मचाई हैं इसी प्रकार यह श्लोक भी समझो।

विचारणीय यह है कि "चोदनालक्षणो धर्मः" इस मीमाँसा सूत्र के अनुसार प्रथम तो इस श्लोक में ऐसा विधिवाक्य ही कोई नहीं जिससे कि धर्म रूप में परिणत किया जाय तिस पर भी कल्प की गल्प कौन अल्प जल्प सकता है। इत्यादि कई एक और भी शंकायें देवस्त्रियों और ब्रह्मवादिनियों के विषयमें करते फिरते हैं कि इस २ प्रकारके विशेषण या वर्णन उपलब्ध होते हैं जिससे कि यज्ञोपवीत सिद्ध होता है लेकिन ध्यान रहे कि "एतच्छास्त्रं मनुष्यानधिकरोति" इस शंकर भाष्य के अनुसार यह जो कुछ भी विधिनिषेधात्मक वाङ्मय है यह मनुष्याधिकार को उपलक्ष रख कर रचा गया है जिस प्रकार गवर्नमेंएट के कानून से भी मनुष्येतर योनियां निग्रहानुग्रह के विषयमें वरी हैं इसी प्रकार ईश्वरीय कानून भी देव पशुतिर्यगादि योनियों को छोड़ मनुष्य पर ही लागू होता है ब्रह्मवादिनी स्त्रियों की कौन कहे जब कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही कर्मकाण्डान्तर्गत शिखासूत्र को त्याग कर संन्यास पथ के पथिक बन जाते हैं।

तस्मात् समस्त सन्दर्भ समुच्चय से सहृदयों को सम्यक्-

तया विदित हो ही गया होगा कि लोग यज्ञोपवीत जैसे पर-म पावन धार्मिक चिन्ह का किस प्रकार दुरुपयोग करते फिरते हैं । एक वर्णसङ्कर फिरका तो हिन्दुओं का अब तक भी ऐसा है जो कि हिन्दु नाम से कतराता है बजाय जनेऊ के चमड़े का पट्टा भले ही गले में लटकाये फिरें लेकिन जिस हिन्दु कौम और यज्ञोपवीत की आन और शान में आज से कुछ सदियाँ पहले जिनके पुरखाओं की "शिर जावे तॉं जावे मेरा हिन्दु धर्म ना जावे" 'तिलक जञं राखा प्रभुतां का' की गूंज से भारत उद्बुद्ध हो पड़ा था, वाणी क्या थी बिजली का काम कर गई समय ने पलटा खाया, आज उन्हीं कर्म योगियों और शहीदों की सन्तान विमुख हो गई–समय की बलिहारी है । "सब दिन होत न एकहिं जैसे"

दूसरा फिरका अपने आपको अब हिन्दू तो कहलाने लगा है लेकिन जनेऊ की इन्होंने भी यहां तक दुर्गति की कि धोबी गड़रियों की कौन कहें भंगी चमार चाण्डालों तक को पहनाने की उदारता प्रकट कर डाली, सम्भव है 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण' इस मंत्र के आधार पर बैल और घोड़ों को भी ब्रह्मचारी बना जनेऊ पहनावें । तब ही समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति होगी ॥

स० ध० के प्रचण्ड प्रचारक जगद्गुरु श्री स्वा० शङ्कराचार्य की जीवनलीला में चातुर्वर्ण्य विषयक सुधार का जो काम अधूरा छूट गया था उसको तत्पश्चाद्भव दाक्षिणात्य ही आचार्य रामानुज ने खास कर तथा निम्बार्क, माध्व, वल्लभ

प्रभृति आचार्यचरण एवं गौराङ्ग चैतन्य महाप्रभु आदि ने सम्पादन किया। स्वा० शङ्कराचार्य ने प्रधानतया द्विज वर्णों से सम्बन्ध रखने वाली संन्यासादि पद्धति को परिष्कृत किया। संन्यासियों के १० योग पट्टों में से सरस्वती भी एक योग पट्ट है जिसे बाबा दयानन्द पोपलीला समझते थे परंतु शोक है फिर भी अपने नाम के गन्दे नाले के साथ सरस्वती बहाते ही रहे और न आज कल के उनके चेले चांटे ही गुरुको इस पोप लीला से छुटकारा देते हैं। अस्तु। शूद्र विषयक भी भला ही कोई आनुषङ्गिक सुधार हो गया हो परंतु आचार्य चरणों का प्रधान संरम्भ द्विजवर्णसुधारविषयक था। आचार्य की जीवन लीला समाप्त होने पर रामानुज वल्लभ चैतन्य आदि आचार्यों ने इस छूटे आनुषङ्गिक कार्य को पाये तक़मील तक पहुँचाने का यत्न किया। सामान्यतया चाहे द्विज भी कर्मक्षेत्र के लक्ष्य में आगये हों परंतु प्रधान संरम्भ उनका सच्छूद्र (गोप-नापित-आदि) और गौणरूपेण स्त्रीवर्ग के सुधार विषयक रहा। इसी वास्ते उन्होंने भक्ति प्रधान रक्खी स्त्री शूद्र वर्ग के लिये श्रुति स्मृति अनुमोदित मार्ग भी यही है। गायत्री आदि भक्तिप्रधान मंत्रोंके तथा रुद्राक्ष भस्म आदि के अतिरिक्त राम और कृष्ण मंत्रों की दीक्षा दे तुलसी की कण्ठी और गोपी चन्दन से ही काम चलने लगा। तात्पर्य-परमपावन प्रभु के चरणों की तरफ पहुँचा हृत्स्थल पर पतितपावनी भक्ति भागीरथी बहा दी।

रहे असच्छूद्र जिन्हें अन्त्यज (अन्त्यावसायी) या अ-छूत नाम से पुकार सकते हैं इनके उद्धार के लिये यद्यपि रामानन्द नानक कबीर तथा दादू प्रभृति महात्माओं ने प्रधान तथा उद्योग किया लेकिन वेदादि सच्छास्त्रों से पूर्ण परिचित न होने के कारण सफलता के अतिरिक्त वर्णाश्रम मर्यादा को कुछ शृङ्खलाबद्ध से न रख सके। रामानन्दियों के यहां तो कण्ठी धारी व चक्राङ्कितों का चाहे किसी भी वर्ण का हो सह-भोज भी चल पड़ा और अनधिकारी वर्ग को देकर यज्ञोपवीत की विडम्बना होने लगी लेकिन "जाति पांति पूंछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई"। के पड़दे की ओट में इनके शिष्य कबीर साहब तो भक्ति की तरङ्ग में और भी अधिक बह गये और उसी आवेश में वर्णाश्रम धर्म पर कुछ का कुछ कह भी गये। लेकिन फिर भी यहां तक किसी न किसी रूप में वर्णाश्रम मर्यादा का लिहाज बना रहा।

इन महात्माओं के बाद ख़ास कर पादरियों के प्रचार की आन्धी के झोंकों में कान्दिशीक व किं कर्तव्य विमूढ़ हो स० ध० की वज्रभित्ति चातुर्वर्ण्य की बुनियाद को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये स्वामी दयानन्द मण्डली ने बड़ी गर्ज तर्ज़ के साथ टक्कर ली।

आपका प्रधान कर्मक्षेत्र असच्छूद्र अन्त्यज अन्त्यावसायी या अछूत और स्त्री वर्ग रहा। मस्करी जी साधारणतया संस्कृत भी जानते थे। लोकरुढ़ होने के कारण बहुत सा धन

एकत्र कर मनमाने ग्रन्थ लिखवाये। वेदों के मन्त्रों की कतर-ब्योंत कर यह साबित करने की चेष्टा की कि अन्त्यज और स्त्रियां भी वेद पढ़ें। आज भी आपके चेले चौंटी छटांक भर मौजूदा वनस्पति घृत से स्वाहा देकर चाण्डाल से चाण्डाल तक को क्षणभर में ही शर्मा पद से भूषित कर गले में जनेऊ के नाम से दो तागे डाल ब्रह्मवर्चस्वी वेदपाठी ब्राह्मणों के बगल में जा पटकते हैं।

करतूत यह है कि बनाते सब को ब्राह्मण ही हैं भला छोटे बनें ही क्यों? आर्यसमाज क्या है? मानो बीसवीं सदी में चाण्डालों को ब्रह्मर्षि बनाने की मशीन है। रहा स्त्री विषयक सुधार? स्त्रियों के लिये भी स्वा० जी ने स० प्र० में गर्भाधानादि विधि अनुभव पूर्वक लिखी रसिकोंको कोकशास्त्रकी ज़रूरत ही न रही। लोगों का ख्याल है कि इस आविष्कार में रमावाई से सहायता ली गई क्यों कि योग से तो उन्हें चिढ़ थी। साथ ही दयालु दयानन्द कामिनियों के क्लेश काटने के लिये "पतिमेकादशं कृधि,, के पशुधर्म का पाठ पढ़ा गये। सीता, सावित्री से तो नाक भौं सिकोड़ते थे।

समाजियों के ख्याल में अन्त्यजों (अछूतों) और स्त्रियों का सुधार हो गया, विचारशील कहते हैं उभय भ्रष्ट कर डाले। चौवे जी गये थे छब्बे बनने दूबे बन के आगये। दो घर के भी खो बैठे। मस्करी जी चाहते तो उन्नति होंगे लेकिन हो अवनति गई। 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'

चले थे गणेश बनाने बनगया बन्दर । अन्त्यजोंको त्रिशङ्कुकी भांति कापड़ी महोदय दिखाना तो सीधा स्वर्ग चाहते थे लेकिन "विहणो वृषणायते, के समान बीच ही में लटकते रहे ।

वर्णाश्रम धर्माभिमानियों का कर्त्तव्य क्या है ? और क्या नहीं ? इस विषय में भगवदुपदेशानुसार शास्त्र ही प्रमाण मानने चाहिये । शास्त्रों में कन्योपनयन की ही भान्ति शूद्रोपनयनका कहीं भी विधान नहीं । प्रत्युत भगवान् मनु कहते हैं कि "शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः" ९ । २२४ । यज्ञोपवीतादि द्विज चिह्न धारण करने वाले शूद्र को राजा दण्ड दे ।

'यज्ञोपवीत' शब्द से ही यज्ञोपवीत का सम्बन्ध यज्ञ से स्पष्ट प्रतीत होता है । स्मृतियों में वर्ण धर्म देखने से निश्चित होता है कि यज्ञ के अधिकारी द्विज वर्ण ही बताये गये ।

उदाहरण रूप से मनुस्मृति ही देख लीजिये जिसे कि प्रतिवादी भी प्रमाण कोटि में मानते हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।१।८८

प्रजानां रक्षणं दान-मिज्याध्ययनमेवच ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ।१।८९॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेवच ।१। ९०॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।१। ८१॥

उपर्युक्त स्मृति पद्यों में द्विजाति के लिये ही 'यज्' धातु का प्रयोग किया गया है। शूद्र का तो निष्कपट भाव से त्रैवर्णिक सेवा करना ही परमधर्म बतलाया है। भगवती गीता भी यही आदेश करती है कि 'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्। १८। ४४।

जैमिनिप्रणीत मीमांसा दर्शन में 'शूद्रानधिकाराधिकरण, के अन्तर्गत 'अपिवा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत, सूत्र है। जिसका अर्थ है कि-वेद की आज्ञा से यज्ञ करने का अधिकार शूद्र को छोड़ कर केवल द्विजों के लिये ही नियत है। जब शूद्र वर्ण यज्ञ का अधिकारी ही नहीं तो (यज्ञ+उपवीत अर्थात् यज्ञार्थमुपवीयते उपनह्यते यत्तद् यज्ञोपवीतम्। यज्ञ के लिये जिसको धारण किया जाय उसे यज्ञोपवीत कहते हैं) यज्ञोपवीत किस प्रकार धारण कर सकता है।

वैदिक कर्मकाण्ड कलाप में जो कि बहुकष्ट साध्य है शूद्र वर्णके लिये बड़ी ही सहूलियत है। जितना २ ऊँचा २ वर्ण है उसके ऊपर उतनी ही अधिक जिम्मेवारी है। इस बात को धर्मशास्त्रों के ज्ञाता अच्छी प्रकार समझते हैं कि वैश्य की अपेक्षा क्षत्रिय को और उसकी अपेक्षा ब्राह्मण को उसकी विषय विषयिणी स्वच्छन्दताके लिये स्मृति जञ्जीरों ने किस मजबूती

से जकड़ रक्खा है तथा कैसे २ कठोर प्रायश्चित्त उच्च २ वर्ण के अनुरूप समधिक कष्टसाध्य विहित हैं ये ही बातें आश्रम धर्मों में भी मिलेंगी, परन्तु शूद्र इन सब बन्धनों या खटरागों से समझिये मुक्त हैं यह सब इसलिये नहीं कि पूज्यपाद स्मृतिकारों का किसी वर्णविशेष या आश्रमविशेष से रागद्वेष हो। दुर्भावना के भण्डार बहुत से भद्रभावुक प्रायः आजकल ब्राह्मणों को पानी पी पी कर कोसते हिचकते नहीं। परन्तु उन्हें यह विदित नहीं कि इन दिव्य आदर्शों को कायम करने वाले मनुप्रभृति पूज्य स्मृति प्रणेता मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ब्रह्मवेत्ता जनक इत्यादि क्षत्रिय भी थे। भगवान मनु स्वयं लिखते हैं 'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति। नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम्। १०। २६। शूद्र में तथाविध प्रबल पाप परमाणुओं की उपलब्धि ही नहीं जो वैदिक संस्कारोंकी आवश्यकता पड़े। "वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च। मनु० २। २६। अर्थात् गर्भाधानादि श्मशानान्त वेदविहित षोडश संस्कार द्विजाति के हों। 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्। इत्यादि सत्य बोलना आदि साधारण धर्मों के अतिरिक्त शूद्र से यदि विशेष धर्म (लशुनभक्षण निषेधादि, न भी हो सके तो द्विजातियों की भांति पातक का भागी नहीं।

मनुस्मृतिमें लिखा है कि "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य

च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्" २।१२। वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रियता इन चार तरीकों से धर्म का निर्णय होता है। किसी भी धर्म विषयक अङ्ग को प्रथम वेद में देखो कि वेद की क्या आज्ञा है। अनन्तर धर्मशास्त्रों से परख कर महापुरुषों के सदाचार से मिला आत्म तुष्टि की कसौटी पर कसे। इस प्रकार साधन चतुष्टय से धर्म का निर्णय करे। वेद में न तो द्विजातियों के ही उपनयन संस्कारकी विधि है और न स्त्री शूद्र वर्ग की। कई वार जब आर्यसमाजियों से पूछा जाता है कि आप अपने माननीय वेदों से कृपया यज्ञोपवीत विधि दिखलाइये तो वगलें झाँकने लगते हैं। लाचार माध्यन्दिनी शाखा अ० १९ मं० ३१ वाँ वोला करते हैं। इस मन्त्र के अन्त में "सौत्रामणीसुते,पद आता है और इसी पर आर्यसमाज का पूरा गर्व है। स्वामी दयानन्द ने अर्थ किया है यज्ञे सौत्रामणी-सूत्राणि यज्ञोपवीतादीनि मणिना ग्रन्थियुक्तानि प्रियन्ते यस्मिंस्तस्मिन् सुते-सम्पादिते। जिसमें यज्ञोपवीतादि ग्रन्थियुक्त सूत्र धारण किये जाते हैं उस सिद्ध किये हुये यज्ञमें। स्वामीजी का यह अर्थ पूर्व मीमांसा, शतपथ ब्रा० कातीय श्रौत सूत्र और व्याकरण एवं कोष ग्रन्थोंके विरुद्ध है। समाजियों का ख्याल है कि सौत्रामणीयज्ञ यज्ञोपवीत संस्कार को कहते हैं लेकिन पूर्व मीमांसादि में सौत्रामणी पद के विधान को देखने से यज्ञोपवीत संस्कार से पृथक् एक विलक्षण यज्ञ स्पष्ट विदित होता है।

(२) गौतमादि महर्षियों ने ४८ संस्कारों की गणना में सौत्रा-
मणी संस्कार यज्ञोपवीत संस्कार से भिन्न ही माना है।

(३) स्वा० दयानन्द ने ऋ० भा० भू० में अपने भाष्य को शत-
पथ के अनुकूल लिखा लेकिन उनकी यह प्रतिज्ञा झूठी
निकली चूंकि शतपथ काण्ड १२ ब्राह्मण ४-५ को देखने
से पता लगता है कि सोत्रामणी याग पृथक् ही एक याग
विशेष है जिसको दयानन्द यज्ञोपवीत संस्कार समझ
बैठा।

(४) व्याकरण से भी स्वामी जी का किया अर्थ अशुद्ध सिद्ध
होता है "सौत्र" का अर्थ सूत्र नहीं होसकता बल्कि सूत्र म-
र्हतीति सौत्रः अर्थात् सूत्रके जो योग्य हो उसे सौत्र कहते हैं।

(५) शब्द कल्पद्रुम आदि समस्त कोषों में सूत्रमर्हतीत्यादि ही
अर्थ मिलेगा न कि सौत्र का सूत्र।]

(६) मणि पद का अर्थ ग्रन्थि करना यह दयानन्द का ही दु-
स्साहस है।

(७) तथा 'सूत्राणि मणिना युक्तानि' इत्यादि विग्रह करने में तो
'सूत्रामणि' प्रयोग बनेगा न कि सौत्रामणि, तस्मात् कहना
पड़ेगा कि खास तौर पर समाज के तो माननीय वेद से
डूम चमारों की तो बात ही दूर रही द्विजाति का भी
यज्ञोपवीत त्रिकाल में सिद्ध नहीं हो सकता।

दूसरे नम्बर पर धर्मशास्त्र हैं जिनकी स्मृति संज्ञा है।

स्मृतियों में प्रथम त्रिवर्ण का ही यज्ञोपवीत विधान है। यह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥३६॥

मनु० अ० २।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

मनु० २।३७।

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भाष्टमे वा ।

एकादशवर्षं राजन्यम् द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥

पारस्कर गृह्य सू० ।

आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः । आद्वाविंशाद् क्षत्रियस्य । आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य । अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥

पारस्कर तथा आश्वलायनादि गृ० सू० ।

इत्यादि सम्पूर्ण स्मृतियां और तदन्तर्भुक्त गृह्यसूत्र द्विजातियों के लिये ही उपनयन संस्कार को डंकेकी चोट से पुकार २ कर बता रही हैं। उल्लिखित प्रमाणों में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों का ही क्रमशः ८-११ और बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार काल बताया है।

यज्ञोपवीत संस्कार के त्रिविध कालों में से ये मुख्य काल हैं । शास्त्र आज्ञा देते हैं यदि ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी, क्षत्रिय बलवान् और वैश्य धनवान् सन्तान होने की कामना करें तो उन्हें चाहिये कि क्रमशः ५-६ और आठवें ही वर्ष में सन्तान का उपनयन संस्कार करा डालें । ये काल काम्य काल हैं ।

ज्यादा से ज्यादा ब्राह्मण १६ क्षत्रिय २२ और वैश्य २४ वर्ष अर्थात् निर्दिष्ट मुख्यकाल के दुगुने काल तक अवश्य ही यज्ञोपवीत संस्कार करा ले अन्यथा—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।

सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः । मनु

ये तीनों जातियां यदि निर्दिष्ट अन्तिम काल तक उपनीत न हो जावें तो अनन्तर पतित मानी जाती हैं । यह गौणकाल है।

अब ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि स्मृतिकारों को शूद्रोपनयन भी अभीष्ट होता तो शूद्र के लिये भी द्विजाति की भांति उपनयनकाल बताते और उसके लिये भी आदेश होता कि यदि इतने समय के भीतर २ उपनीत न हो सकेगा तो व्रात्य कहलावेगा ।

इतना ही नहीं बल्कि ब्राह्मण ग्रन्थों तक में भी द्विजातियों के ही यज्ञोपवीत संस्कार के लिये ऋतु और व्रत विधान किये हैं—

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् । ग्रीष्मे राजन्यम् ।

शरदि वैश्यम् । शतपथ

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आ-
मिक्षाव्रतो वैश्यः । शतपथ

कार्पासमुपवीतं स्याद् विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥

मनु० २ । ४४ ।

इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों और स्मृति वाक्यों द्वारा केवल द्विजों के लिये ही ऋतु व्रत और कार्पासादि यज्ञोपवीत का विधान है। स्वा० दयानन्द ने भी संस्कारविधि में उल्लिखित प्रमाणों के ही आधार पर द्विजाति के ही लिये काल ऋतु और व्रतों का निर्णय किया है। शूद्र के लिये उन्होंने भी ऊपर लिखी बातों में से एक भी नहीं बताई। बताते भी कहां से ? क्योंकि शास्त्रों में तो शूद्र के लिये कहीं भी यज्ञोपवीत का विधान नहीं मिलता। प्रत्युत यत्र तत्र निषेध वचन उपलब्ध होते हैं।

द्विजत्व सम्पादक इस वैदिक संस्कार के न होने से ही जहां शूद्र को मानवधर्म में एकजाति कहा साथ ही इसके ब्राह्मणादि त्रिवर्ण को 'द्विजाति' या 'द्विज कहा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियोवैश्य-स्त्रयोवर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥

मनु० १० । ४ ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं चौथा

वर्ण शूद्र एकजाति है, पांचवा वर्ण ही नहीं, क्योंकि शूद्र वर्ण बड़ा ही विशाल (वसीह) वर्ण है इसमें द्विजाति के अतिरिक्त प्रत्येक के लिये गुंजायश है।

"द्विर्जायन्ते-द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्याँ जायन्ते इति द्विजाः। द्विजन्मान इति यावत्" एक जन्म तो सवर्ण माता पिता के विशुद्ध रजवीर्य से और दूसरा "संस्कारैर्द्विज उच्यते" उपनयन प्रभृति वैदिक संस्कारों द्वारा होने के कारण ब्राह्मणादि त्रिवर्ग 'द्विज या द्विजाति' कहलाते हैं।

"चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मण क्षत्रियवैश्यास्तेषां "मातुरग्रे हि जननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने। अथास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। वसिष्ठ स्मृति-

अर्थात् ब्राह्मणादि चार वर्ण हैं उनमें से प्रथम तीन द्विजाति कहलाते हैं, क्योंकि एक जन्म तो सर्वसाधारण है ही दूसरा जन्म इनका उपनयन संस्कार द्वारा माना गया है यहां पर भी प्रथम जन्म के सामान-गायत्री को माता और आचार्य को पिता कहा गया है यह जन्म दिव्य जन्म है। किसी विद्यमान वस्तु को उत्तम बनाना उसका संस्कार कहलाता है "संस्कारोहि गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा" संस्कार गुणोंके डालने या दोषोंके दूर करने से दो प्रकार का होता है। १ म जैसे तैल को फूलों की सुगंधि देकर उत्तम बनाना। २ य जैसे चूने से शीशे पर के मल को दूर करे उसे उज्ज्वल

कर देना । इनको क्रमशः "आधान" और 'शोधन' कहते हैं। इस प्रकार संस्कारों से दो लाभ होते हैं। शोधन द्वारा वस्तु का बाहिरी मल दूर हो वह शुद्ध (ख़ालिस) बन जाती है और आधान से उसमें एक और नयापन आजाता है। संस्कार एक ख़ास महत्व रखते हैं इनका इतना सामर्थ्य होता है कि मनुष्य के विचारों को ख़ास सांचेमें ढाल देते हैं। हमारे पूर्वज इन संस्कारों का आज की भान्ति दुरुपयोग नहीं करते थे। अस्तु कहने का तात्पर्य यह है कि शूद्र को उपनयन देना उपनयन का दुरुपयोग करना है। उपरितन समस्त सन्दर्भ से सिद्ध होचुका कि शूद्रोपनयन श्रुति स्मृति विहित भी नहीं और न सदाचार में ही यह बात देखी गई और आत्मप्रियता तथा उल्लिखित प्रकार से स्वा० दयानन्द का अभीष्ट भी यही था कि शूद्रोपनयन न हो। तस्मात् उपाय चतुष्टयसे द्विजाति का ही उपनयन संस्कार युक्तियुक्त और शास्त्र सम्मत है।

संस्कारविधि की ही भान्ति सत्यार्थप्रकाश के भी तृतीय समुल्लास के अध्ययनाध्यापन प्रकरण में स्वा० दयानन्द जी शूद्र के उपनयन का स्पष्ट शब्दों में निषेध करते हैं "शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेत्" जो कुलीन शुभलक्षण युक्त शूद्र हो तो उसको मंत्रसंहिता (स्वा० दयानन्द जिसको वेद मानता है) छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे शूद्र पढ़े परंतु उसका उपनयन न करे" स्वा० जी के सत्यार्थ प्रकाश के ये शब्द अविकल (ज्यों के त्यों) लिख दिये हैं।

और भी स्पष्ट शब्दों में देखिये सत्यार्थप्रकाश आवृत्ति २ य समुल्लास पृ० २६ पर स्वा० जी लिखते हैं कि "८ वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य कुल में······ भेज दें। और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये विना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेजदें" कहिये कितने स्पष्ट शब्दोंमें श्री स्वा० जी महाराज शूद्रों का उपनयन निषेध कर रहे हैं। 'ज़ादू वही जो सर पर चढ़कें बोले, लुत्फ़ क्या जो ग़ैर पड़दा खोले" इतना सब कुछ होने पर भी हम नहीं समझते कि आज कल के नमस्ते बाबू शूद्रों के उपनयन के लिये क्यों इतना टपते फिरते हैं। शोक है गुरुके लेख पर हड़ताल फेर कर बेचारे को अंगूठा दिखा दिया। स्वा० तो उत्तम शूद्र को भी यज्ञोपवीत का अधिकारी नहीं बताते लेकिन ये कूपडा पन्थी भंगी, डोम, चमार, कलाई आदि अन्त्यजों को यज्ञोपवीत पहना पैसे २ की संध्या देदेते हैं ताकि मनुष्य योनि के भी अधिकारी न रहकर तिर्यग् योनि को प्राप्त हो जावें।

उपरितन सत्यार्थप्रकाश के लेख से एक और भी विचित्र रहस्य उद्घाटित होता है कि द्विजों के लिये 'आचार्यकुल' और शूद्रों के लिये "गुरुकुल" यह विभाग बहुत बढ़िया है। स्वा०जी के लेखानुसार गुरुकुल कांगड़ी और गुरुकुल वृन्दावन वगैरह २ सभी गुरुकुल शूद्रों के ही लिये समझे जावंगे द्विज बालक तो "आचार्यकुल" में मिलेंगे, सो समाजमें है नहीं।

स० प्र० तृतीय समुल्लास के प्रारम्भ में ही स्वा० जी

फर्माते हैं "प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो। और दूसरा पाठशाला में, आचार्यकुलमें हो" हम नहीं समझते कि यज्ञोपवीत संस्कार का दो बार होना किस वेद या शास्त्र के अनुसार बाबा जी प्रमाण मानते थे खैर! ये तो हुई उनकी भङ्ग की तरङ्ग।

"दूसरा आचार्य कुल में हो" इससे कम से कम यह तो सिद्ध हो गया कि स्वा० जी भी द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) को ही यज्ञोपवीत का अधिकारी समझते थे, क्योंकि आचार्य कुल उन्होंने द्विजातियों के ही लिये नियत किया है। यदि शूद्रों का भी यज्ञोपवीत उन्हें अभीष्ट होता तो जहां उन्होंने "आचार्यकुल" लिखा वहां "गुरुकुल भी लिख देते क्योंकि शूद्रों के अध्ययन स्थान की उन्होंने ही 'गुरुकुल' संज्ञा रक्खी है

यह तो हो नहीं सकता कि गुरु और आचार्य दोनों शब्द समानार्थक हों क्यों कि मनु भगवान् गुरु और आचार्य के भिन्न २ लक्षण बताते हैं—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते। २। १४०।
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥२।१४२।

इस प्रकार गुरु और आचार्य के भिन्न २ लक्षण होने से गुरुकुल और आचार्यकुल एक नहीं हो सकते। रहा यह कि गुरुकुल में जाकर शूद्र क्या करे?

यह हम आगे 'स्त्री शूद्रवेदानधिकार, प्रकरण में हो सका तो बतावेंगे कि शूद्र के लिये 'पाकादि सेवा की विद्या स्वा० जी ने लिखी है। जो लोग आजकल उन्हें यज्ञोपवीत दे गुरुकुलोंमें संस्कृत पढ़ा रहे हैं वे सचमुच ही वेचारे स्वा० को अंगूठा दिखा रहे हैं।

श्री मद्यानन्द प्रकाश गंगा काण्ड नवम सर्ग पृ० १११ पं० ७ से लिखा है कि--'शिवदयाल ने यज्ञोपवीत के विषय में पूछा कि इसका किसको अधिकार है? इसके न धारण से क्या दोष हैं और धारण करने में क्या गुण हैं? स्वामीजी ने कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के बालकों को जनेऊ लेनेका अधिकार है। जिसने यज्ञोपवीत नहीं किया वह वैदिक कर्म करने का अधिकारी नहीं हो सकता। यह सूत्र आर्यों का धार्मिक चिन्ह है और कर्तव्य चिन्ह है" क्या अब भी सन्देह वाकी रह गया?

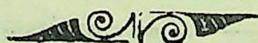
दयानन्द प्रकाश गंगाकाण्ड सर्ग १ पृ० ६७ पं० ५ से--'स्वामी जी तीन वर्णों के लिये सन्ध्या करना शास्त्र सम्मत बताते थे"

इसी प्रकार सङ्गठन काण्ड सर्ग ८ पृ० ३५६ पं० १ में लिखा है-'शास्त्र में तो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के लिये एक ही गायत्री और सन्ध्या का विधान है"हाथ में आरसी को शीशा क्या? लेख स्पष्ट है-गायत्री व सन्ध्या

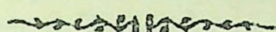
वन्दन यज्ञोपवीतधारी ही कर सकते हैं और वह अधिकार त्रिवर्ण को ही है बल्कि स्वामी जी कहते हैं जिसने यज्ञोपवीत नहीं किया वह वैदिक कर्म का अधिकारी नहीं हो सकता स्पष्ट ही है कि वैदिक कर्मों का अधिकार भी तीनों ही वर्णों को है। लेकिन आजकल की लीडर लीला में तो अन्धेर नगरी चौपट राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा हो रहा है। इस विषय में आर्यसमाज के महारथी आर्यसमाजके इतिहास के लेखक वेदतीर्थ पं० नरदेव जी शास्त्री की ही सम्मति लिख देना उचित समझता हूँ—

"सहस्रों अन्त्यजों को पकड़ २ कर उनके गलों में यज्ञोपवीत डाले जारहे हैं पर करोड़ों ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्योंके बालक यज्ञोपवीतके बिनाही शूद्र हुए जाते हैं उनको यज्ञोपवीत देनेकी किसीको चिन्ता नहीं है इनकीशिक्षा दीक्षाकी किसीको परवाह नहीं है। अधिकारी अनधिकारीका ध्यान नहीं,पात्र अपात्रका विचार नहीं न जाने क्या हो रहा हैं और न जाने क्या होकर रहेगा औररोगयह होगया है कि यज्ञोपवीतके गलेमें पड़ते ही ये लोग अपनी जाति आदिको(पूछने पर भी)ठीक २ नहीं बताते,इस प्रकार सब संकट होरहा है। उद्धार चाहने वाले केवल उपाय सोचते हैं पर अपाय (हानि-नुकसान) नहीं सोचते"

['आर्यसमाज का इतिहास' प्रथम भाग।



॥ स्त्रीशूद्रवेदानधिकार ॥



"स्त्रीशूद्रोऽनुपनीतश्च वेदमन्त्रान् विवर्जयेत्,,

अर्थात्-स्त्री शूद्र और यज्ञोपवीत से शून्य मनुष्य के लिये वेद मन्त्र वर्जित हैं।

यज्ञोपवीत के अधिकार व अनधिकार के विषय में विचार करते समय जिज्ञासुओं को स्मरण रखना चाहिये कि यज्ञोपवीत का सम्बन्ध यज्ञ से यज्ञ का सम्बंध वेद से और वेद का सम्बन्ध वेदाधिकारियों से है। अर्थात् भावी वेदाधिकारी ही यज्ञोपवीत के भागी हुआ करते हैं। अब प्रकृत में विचार यह प्रस्तुत है कि स्त्री और शूद्रवर्ग तर्कवाद या प्रमाणवाद से भी वेदाधिकारी हैं या नहीं?

श्री पूज्यपाद, तत्त्ववेत्ता दूरदर्शी त्रिकालज्ञ महर्षियों ने समस्त संसार को जातीयता के एक सूत्र में ग्रथित करने के लिये दो महत्व के चिन्ह नियत किये हैं जिन्हें शिखा और यज्ञोपवीत कहते हैं। हिन्दू जाति के सबसे प्रथम और अत्यन्त आवश्यक येही दो चिन्ह हैं जिनका अस्तित्व मिटानेके लिये महमूद और मुगलशाही तेज तलवारकी धार सदियों तक म्यान से बाहर ही चमकती रही आज भी हल्दीघाट और पानीपत के मैदानों की लाल मिट्टी देखकर बीर राजपूतों की कुर्बानियां याद आजाती हैं और उनका वीर व्रत कि"हतो वा प्राप्स्यसि

स्वर्ग जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" हृदयमें चहल पहल मचा देता है आज भी लिफाफों पर ७४॥ के अङ्क को देख कर ज़ालिम औरङ्ग़ज़ेबके ज़ुल्म आंखोंके सामने छा जाते हैं। कहीं उस समय के भारतीय भी अब जैसे होते तो हिन्दूजाति का गौरव सूर्य्य अरब के बादलों में न जाने कब का विलीन हुआ होता हा जगदीश! स्वर्गीय राणा प्रताप की आत्मा एक सच्चे हिन्दू की आत्मा हमें आज कहां मिलेगी।

छत्रपति शिवाजी मरहट्टा की तो बात ही क्या कहनी हैं। कविवर भूषण कहते हैं—

कुम्भकरण असुर अवतारी औरङ्गज़ेब,
कीन्हीं मथुरा कतल दुहाई फेरी रब की।
खोद डारे देवी देव शहर महल्ला बाँके:
लाखन मुसल्ला किये माला छूटी तबकी॥
भूषण भनत भाग्यो काशीपति विश्वनाथ,
और कौन गिनती में भूली गति सबकी।
चारो वर्ण धर्म छांड़ि कलमा निमाज़ पढ़ें,
शिवाजी न होतो तो सुन्नत होती सबकी॥
राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत।
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में,
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की॥
कांधे पै जनेऊ राख्यो माला राखी गरमें,

काशी की कला हू जाती मथुरा मसीद होती।
शिवाजी न होतो तौ सुन्नत होती सबकी ॥ २ ॥

अस्तु,

तुम साकार ब्रह्म के उपासक हो या निराकार के? समाजी हो या सनातनी? अवतार फ़िलासफी मानते हो या नहीं? यह तो पूछने पर पता लगेगा लेकिन तुम हिन्दू हो इस बात का तो मुंहतोड़ जवाब देने के लिये हिन्दूधर्म की फहराती पताका सिवाय शिखाके और क्या होसकता है? शिखा का सिद्धान्त एक सर्वसाधारण और विश्वव्यापक सिद्धान्त है। आज लोग शुद्धि २ चिल्ला रहे हैं उन्हें यह विदित होना चाहिये कि केवल शिखा का सिद्धान्त ही इतना व्यापक है कि समस्त योरोप और अरब भी इसके अन्तर्भुक्त हो हिन्दू कहला सक्ता हैं।

स० ध० तो है ही सार्वभौम; हिन्दू हो चाहे गैर हिन्दू स० ध० का दरवाज़ा सबके लिये खुला है। पृथ्वीभर के लोग गीता गङ्गा गौ और गोविन्द की शरण में आसक्ते हैं। हिन्दू और सनातनधर्मी ये दोनों शब्द परस्पर निरपेक्ष भी हो सकते हैं। झगड़ा तो द्विज बनने बनानेमें है। क्या अच्छा होता यदि आर्यसमाजी द्विज बनाने के दुराग्रहको और सनातनधर्मी हिन्दू भी न बनाने के हठ को छोड़ शिखा के सिद्धान्त पर फैसला कर लेते तो एक पेचीली पहेली अनायास ही हल हो जाती? हिन्दू प्रतिदिन संख्या में कम

होते चले जारहे हैं ऐसा कहने वालों का भी घर पूरा होजाता और वर्णाश्रम मर्यादा भी बनी रहती।

तात्पर्य–सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। रही द्विज बनने बनाने की बात? यह तो ईश्वरप्रदत्त जन्मसिद्ध अधिकार है। जबकि अंग्रेजों ने भी बैरिस्टरी और सिविल सर्जनी आदि डिग्रियां रिज़र्व रक्खी हुई हैं तो क्या हमारे ऋषि इतने अदूरदर्शी थे कि ऐरा गैरा नत्थू ख़ैरा को 'द्विज' बना डालें?

तस्मात् शिखा का चिह्न ही एक ऐसा चिह्न है जिसके द्वारा समस्त जगत् हिन्दुओं की नामावली में आ सकता है। यह तो हुई प्रथम विभाग की बात। दूसरा विभाग इस प्रकार का था कि वह शिखा के साथ यज्ञोपवीत भी धारण करता था उसकी गणना द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों में थी। इस विभक्ति से वैदिक (हिंदू) मत के दो स्वरूप थे, एक साधारण और दूसरा असाधारण। साधारण हिन्दुओं के वास्ते पुराण इतिहासादि ग्रन्थ पाठ्य थे। लेकिन असाधारण (द्विज) हिन्दुओं के लिये जहां शिखाके साथ में एक विशिष्ट चिह्न यज्ञोपवीत भी आवश्यक था तहां पुराणादि के साथ २ वेद भी पाठ्य ग्रंथ थे जिनकी शिक्षा कुलपतिकल्प ऋषियों द्वारा ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुलों में होती थी।

इस प्रकार हिन्दूजाति का मण्डल विशाल था जो चाहता था हिंदूज़ाति के झण्डे के नीचे आजाता था और यही कारण

था कि उदयाचल से लेकर अस्ताचल पर्यन्त हिन्दूधर्म की पताका फहरा रही थी।

दोनों विभाग एक दूसरे के सहारे थे और एक दूसरे को अपना अंग समझते थे साधारण और असाधारण अर्थात्-केवल शिखाधारी और शिखासूत्र धारी, दोनों विभागों को अभिमान था कि हम एक जातीयता रखते हैं। दोनों का उद्देश्य धर्म और भाषा एक थी। अथवा यों समझिये चारों वर्ण एक अवयवी के अवयव थे।

लेकिन शोक है कि इन दिनों रिफार्मरी का जुआ कंधे पर रखने वाले लोग वेद शास्त्र से विमुख हो वितण्डा द्वारा इन बातों को पब्लिक के सामने दूसरे ही पहलू में पेश करते हैं, और दुराग्रह कर बैठते हैं कि स्त्री शूद्रों को भी यज्ञोपवीत व वेद के अधिकार से क्यों वञ्चित रक्खा जाय?

हमारे विचार से तो इसमें स्त्री शूद्र को वञ्चित रखने की कोई बात नहीं। जब कि मनुष्यमात्र का चरम लक्ष्य परमात्म प्राप्ति ही है तो जिस परमात्मा को द्विजवर्ग बहुत कष्टसाध्य ज्ञान काण्ड के दुर्गम एवं नीरस मार्ग द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करता है उसी प्रभु को स्त्री और शूद्र वर्ग उपासना मार्ग के सरस एवं सरल उपाय से प्राप्त कर लेता है।

भक्ति भागीरथी में प्लावित हो तापत्रय के उपशम पूर्वक परमात्मदेव के साक्षात्कार के लिये जितना सुगम इस सेवक वर्ग को भक्ति मार्ग है हमारे विचार से उतना वैदिक ब्रह्म

मार्ग व यज्ञोपवीत सम्बन्धी कर्मकाण्ड का झंझट नहीं।

भक्तिभागीरथी-पतित पावन प्रभु के पद पङ्कज = उद्गम-स्थान-एक होने के कारण भला ! शूद्र भाइयों से क्योंकर दूर हो बहने लगी ?

स्त्री और शूद्रों को सेवाधर्म का जन्म सिद्ध अधिकार होने से यदि इन्हें सेवा धर्म का शिक्षक भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं।

एक स्त्री अपने संयम तप एवं तन मन की सेवा द्वारा त्रिगुणात्मक पुरुष विग्रहको आधीन कर लेती है तो दीनबन्धु को स्त्रीस्वभाव सुलभ श्रद्धा और प्रेम की डोरी द्वारा जकड़ ले, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? बताओ द्रुपददुलारी द्रौपदी, मीराबाई और वृज की गोपियां कितना वेद वेदान्त पढ़ी हुई थीं और कितने अश्वमेधादि महायज्ञों के पारायण किये थे ? जो कि प्रभु को "माखन के चाखन में गोपियों ने बाँध लिया,।

छछिया भर छाछ पै नाचैं वृजनारी में। जूठे झूठे बेरन में भिल्लनि ने बांध लिया, द्रौपदी ने बांध लिया कच्चे चार तारों में" ऊधो की तो इनके सामने सारी योगचर्चा ही फीकी पड़ गई। वेवश एवं प्रेम पुलकित हो कह बैठा 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।

इसमें यदि बात थी कोई तो यही कि उन्होंने अपनी जीवन तरणी को सच्चिदानन्दसागर में छोड़ दिया था और पल २ छिन २ यही इच्छा रखती थीं कि,,

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां,
हस्तौ च कर्मसु मनस्तवपादयोर्नः।

हे नाथ! हमारी वाणी सदा ही आपके गुणगान करती रहे, कान आपकी कथा को सुनते रहें, हाथ आपके ही निमित्त कर्म करें और हमारा मन आपके कमलरूपी चरणों का भौंरा बना रहे भक्तिरस का पान करके आनन्द की गुआर मचाता रहे।

त्रैवर्णिक सेवा के एकमात्र अधिकारी शूद्र भाई क्या जगत् सेवा के द्वारा प्रभु की सेवा को नहीं सीख सके?

"Think that my grace slumber to while I toil throughout the day, for honest work is worship and to labour is to pray.

अर्थात् यह कदापि चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि सारा दिन सेवा करते रहने से मैं ईश्वर की आराधना से विमुख हूँ क्योंकि शुद्ध सङ्कल्प से काम करना उपासना है और सेवा प्रार्थना है। भक्तपुङ्गव कबीर, नामदेव, रैदास, दादू, सदना आदि इसी शूद्रवर्ण के लाल थे जिन्होंने जनेऊ और वेदपाठके लिये अधिकार की लाठी न उठाकर प्रभु के कमलचरणों का चिन्तन किया और जिनकी वाणी को हम भी सूरदास और तुलसीदासकी वाणी की ही भांति सम्मान पूर्वक देखते पढते और सुनते हैं। देखा जाता है लक्ष्य एक होने पर भी लोग

अपनी २ सहूलियत के मुताबिक नाना उपायों का अवलम्बन कर लिया करते हैं और ऐसा करना उचित और अपरिहार्य भी है प्रयोजन लक्ष्यप्राप्ति से है।

पूर्व ही लिख चुके हैं कि मनुष्य जन्म की सफलता ईश्वर प्राप्ति है। अब चाहे कोई वैदिक वाङ्मय के छकड़ेमें बैठ कई जन्मोंके बाद नाना क्लेशों और विघ्न बाधाओंको झेल कर अपनी यात्राको पूरी करे और चाहे अपनी जीवनतरणी को भक्ति भागीरथी में छोड़कर सुखेन सच्चिदानन्द सागर में जा मिले।

अनुभव बताता है कि प्रत्येक प्राणी आसानी और किफायत को चाहता है। अब यदि स्त्री और शूद्रवर्ग के लिये वेदपाठ न भी बताया तो इसमें वञ्चित रखने की कौनसी बात है?

वेदों का प्रयोजन 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं" इस मनुवचन के अनुसार यज्ञसिद्धि है। यज्ञ का सम्बन्ध यज्ञोपवीती से है सो यज्ञोपवीताधिकारी ही जो कि ब्राह्मणादि त्रिवर्ण है वेदाधिकारी है। यही बात अथर्ववेद में कही है—

(१) 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी-द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजतु ब्रह्म लोकम्॥ १९-७१-१।

मैंने वरदेने वाली वेदमाता (१) गायत्री की स्तुति की है वह हमको (शुभ कार्य में) प्रेरित करें, (वह कैसी हैं) 'द्विजानां पावमानी' अर्थात् द्विजों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन) को पवित्र करने वाली है वह आयु, प्राण, पशु, प्रजा, कीर्ति, धन, और ब्रह्मतेज मुझको देकर ब्रह्मलोक को चली जावे।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि गायत्री का अधिकार केवल द्विजमात्र के लिये नियत है। जब स्त्री शूद्र को गायत्री ही का अधिकार नहीं तो समस्त वेद की कौन कहे। गायत्री का उपदेश उपनयन काल में होता है। बिना यज्ञोपवीत किये तो ब्राह्मणादि वर्ण भी वेद पढ़ने का अधिकारी नहीं माना जाता भगवान् मनु कहते हैं

"कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणञ्चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्,,॥मनु० २।१७३

उपनयन के ही अनन्तर वेदारम्भ संस्कार होता है।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते। मनु०

नोट—१ स्मृतियों में भी गायत्री को वेदमाता कहा है।
"गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी" शंखस्मृ० १२। ११,
"प्रजपन् पावनीं देवी गायत्रीं वेदमातरम्"
म० भ० वनपर्व २०० अ० ८३ श्लो०
द्वे जन्मनी द्विजातीनां मातुः स्यात् प्रथमं तयोः।
द्वितीयं छन्दसां मातुर्ग्रहणाद् विधिवद् गुरोः॥२२ व्यासस्मृति १ अ०

उपनयन करके शिष्य को साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ाने वाले की ही आचार्य संज्ञा है। यह तो हुई वेदों की बात, अब जरा शास्त्रों की तरफ़ भी दृष्टिपात कीजिये। आनन्दकन्द भगवान् श्री कृष्णचन्द्र श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश देते हैं कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।
१६। २४

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न पराङ्गतिम् १६।२३

प्यारे अर्जुन! कर्तव्य क्या है और क्या नहीं? इस उलझन को सुलझाने के लिये शास्त्र की शरण ले। जो लोग शास्त्र विधि से उच्छृङ्खल हो मनमानी चलते हैं उनका न तो मनुष्य जन्म ही सफल है न इस लोकमें सुख पाते हैं और न परलोक में ही सद्गति को प्राप्त होते हैं। शास्त्रों में द्विजाति के अतिरिक्त जाति के लिये वेदाधिकार नहीं पाया जाता।

(२) महर्षि जैमिनि प्रणीत मीमांसादर्शन में एक "शूद्रानधिकाराधिकरण" है। उसमें "अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणांप्रतीयेत" ६। १। ३३। यह सूत्र है, जिसका अर्थ है कि "वेदकी आज्ञा से यज्ञ करने का अधिकार शूद्रों को छोड़कर केवल द्विजों के लिये ही नियत है" जब कि शूद्र

को यज्ञाधिकार ही नहीं तो पूर्व लिख भी आये कि "दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं" इस मनु वाक्य से जबकि खासकर यज्ञ के लिये ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ तो शूद्र वेद पढ़कर करेगा ही क्या !

इसी प्रकार व्यासप्रणीत वेदान्तदर्शन में भी एक "अपशूद्राधिकरण" है। उसमें भी स्त्री शूद्र को वेदानधिकारी ही बताया गया है।

(३) "संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च" १ । ३ । ३६ । महर्षि व्यास कहते हैं कि उपनयन (आदि) संस्कार न होने से स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है इसी प्रकार—

(४) "श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च" १ । ३ । ३८ । इस ब्रह्मसूत्र में भी शूद्र को वेदका सुनना तथा पढ़ना निषिद्ध माना है स्मृति में भी निषेध होने से । स्मृति का पाठ इस प्रकार है कि—

(५) "अथास्यवेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः" १२ । १ गोतमस्मृति०

(६) "यद्युह्वा श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्" इत्यादि ब्रा० । शूद्र श्मशान सम है इससे वेद का शूद्रको पढ़ाना तो दूर रहा शूद्रके समीप बेद पढ़ना भी नहीं चाहिये । श्री शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य तथा विज्ञानभिक्षु आदि सब ही भाष्य तथा टीकाकारों ने यह बचन शूद्र के लिये वेद श्रवण के निषेध में लिखा है ।

काशी की विद्वन्मण्डली ने भी स्वा० दयानन्द के सन्मुख शास्त्रार्थ के समय जिन दिनों कि स्वामी जी अपनी ख्याति के लिये काशीके दिग्विजयी पण्डितों से शास्त्रार्थ की धृष्टता कर बैठे थे यही वेदवचन प्रमाणरूपेण पेश किया था जिसपर स्वा० जी महाराज विना सींग पूंछ हिलाये नतमस्तक होगये थे।

सर्वतंत्र स्वतन्त्र स्वा० विशुद्धानन्द सरस्वती जी ने तो बाबा दयानन्द की पीठ पर हाथ फेरते २ कह ही दिया था कि "अरे बाबा तूं अभी कुछ पढ़ा नहीं, काशी में कुछ दिन पढ़" और तो कुछ उत्तर देते बना नहीं पर पूछने लगे कि क्या यह संहिता भाग है या ब्राह्मण भाग ?

स्वा० दयानन्द के इस प्रश्न से तो यही प्रतीत होता है कि उन्हें ब्राह्मण भाग के वेद मानने में सन्देह था।

सच तो यों है कि स्वा० जी की संस्कृत में जितनी योग्यता थी उसके अनुसार तो सन्देह का न होना ही महान् आश्चर्य था। जिस प्रकार यह तो सब जानते और मानते हैं कि स्वा० जी अंग्रेजी और अरबी नहीं जानते थे लेकिन फिर भी उनकी सत्यार्थप्रकाश में बाइबिल और कुरान का घोर खण्डन मिलता है इसी प्रकार यों तो सर्वत्र ही लेकिन खास तौर पर वेदों के ब्राह्मण भाग और पुराणों के ज्ञान से निपट कोरे रह कर भी इनके खण्डन में तत्पर होगये।

यही कारण है कि स० प्र० में भागवतादि पुराणों के नाम पर कई एक कल्पित कथायें—जैसी कि स्वा० जी ने बुढ़ियों

की भान्ति सच झूठी सुनी होंग,-लिख डालीं । और इस जाल साजी का प्रयोजन यह सोचा होगा कि लोग इन धर्म पुस्तकों से गुमराह हो जावें जो कुछ कि मौलवी और पादरी भी चाहते थे। इन कल्पित कथाओं ऊटपटाँग अर्थों और मनगढ़न्त श्लोकों की सत्यता कई बार पूछने पर भी अद्यावधि आर्य समाजी लोग सिद्ध नहीं कर सके और न कर ही सकते हैं। अब तक भी स० प्र० प्रत्येक एडीशन में सांप की तरह कञ्चली बदलता रहता है लेकिन फिर भी ठिकाने पर नहीं आ सका और न समाजियों के ही दिल को तसल्ली देसका है जभी तो वेदव्याख्याता पं० भीमसेन जी व कविरत्न पं० अखिलानन्द जी प्रभृति सैकड़ों विद्वान् समाज को तिलाञ्जलि देगये।

क्या हुआ, यदि रु० ख़र्च कर वेदाङ्ग प्रकाश वग़ैरह पुस्तकें पंडितों से लिखवा भी डालीं स्वा० जी का तो स्वहस्त रचित स० प्र० ही प्रधान ग्रन्थ है और जिसकी वाक्यरचना आर्यसमाजी पं० नरदेव जी शास्त्री के कथनानुसार ही गोल मटोल तथा सन्देहोत्पादक है (१) और जिसको

नोट-१ "इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी जी की वाक्य रचना और कहीं २ कोई २ लेख इतने विचित्र, गोल और सन्देह में डालने वाले हैं कि कह नहीं सकते" 'आर्यसमाज का इतिहास, १ म भाग पृ० १४७॥

पं० जी ! स्वामी जी की तो सभी बातें गोल मटोल और सन्देह में डालने वाली हैं। आप एक लेख ही के लिये चिन्तित हैं। अस्तु

आर्यसमाजरूपी चर्च का बाइबिल कह सकते हैं। परन्तु कहीं कहीं मूर्ख मण्डलीमें पाँचवां वेद समझा जाने लगा है।(आर्य समाज का इतिहास १म भाग) इसी के आधार पर प्रत्येक आर्यसमाजी वैदिक बनने की डींग मारते हैं आश्चर्य तो यह है कि स० प्र० के स्वमतमण्डनात्मक १० समुल्लासों में कुल ७१ मन्त्रों की टूक है और ६२६ इतर ग्रन्थों के प्रमाण हैं इतने पर ही वैदिक बनते हैं लेकिन जो सनातनधर्मी ११३१ शाखाओं के सहित १ लक्ष श्रुति मानने वाले हैं उन्हें अवैदिक कहते हैं। हन्त ! 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः"

प्रथम तो समस्त स० प्र० की तोंद ही गालियों से फूली हुई है यद्यपि परोपकारिणी सभा ने कई बार जुलाब दिये भी पर शोक है कि फिर भी अन्दर की गन्दगी नहीं गई। और यह बात तो अदालत से भी फैसलाशुदा है कि यह पुस्तक निन्दा और गन्दगी से भरपूर है यदि ये दो बातें समाजी इस

हमने तो प्रकृतोपयोगी प्रमाण उनकी पुस्तकों से उद्धृत करते हैं, सो भी इस लिये कि पिछग्गू 'बाकी वाक्यं प्रमाणम्., से भी समझ सकें तो समझें; बाकी गडबड़झाला तुम जानो और तुम्हारे स्वामी जानें। फिर इसी पुस्तक के पृ० १९२ में लिखते हैं कि "कहीं २ वाक्य रचना गोल है और सन्देहोत्पादक है, पढ़ने वाले सब प्रकार के अभिप्राय निकाल सकते हैं"

पुस्तक से बाहर करदें तो निश्चय है कि टायटिल पेजोंके सिवाय बाकी कुछ न बच रहेगा ।

और बातें तो दूर रहीं जिस हिन्दू जाति का आर्यसमाज अपने आपको जंगी बेड़ा साबित करता है उसीके मान्य आचार्यों व ऋषि मुनियों को बाबा दयानन्द ने किन सभ्यता पूर्ण शब्दों में याद किया है । वैष्णवों के पूज्य चरण आचार्य गण को चाण्डाल यवन, कञ्जर और डूम कह पानी पी पीकर कोसा है । किसी को कसाई निर्दयी पोप और किसी को प्रमादी कह डाला है । श्रुतिसर्वस्व वेदभाष्यकार महीधरादि आचार्य पुङ्गवों को भांड, धूर्त और राक्षस तक कह डाला । इसी प्रकार शैवों को निर्लज्ज पामर तक कह देवी देवताओं को इस नीच ने डण्डा और जूता तक दिखाया ।

सनातनधर्मियों को अन्धे पोप भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे कह अपने वंश का परिचय दिया । कहां तक लिखें खुद प्रातः स्मरणीय स्वनामधन्य ब्रह्मसूत्र प्रणेता महाभारत जैसे ग्रन्थ के जन्मदाता गीता जैसी अद्भुत पुस्तक के प्रकाशक और अष्टादश पुराणों के प्रणेता एवं गाथारूप वेद के व्यास (विभाग) करने के कारण ही जिन्हें कृष्णद्वैपायन से व्यास नाम उपलब्ध हुआ ऐसे हिन्दू जाति और हिन्दू-साहित्य के सच्चे रिफ़ार्मर तक को इस दुरात्मा ने अपशब्दों से याद किया । तात्पर्य-हिन्दू जाति के मूर्धन्य भूदेवों, आचार्य ऋषि मुनि देवी देवताओं और अवतारों की भरपेट

निन्दा हिन्दू सभ्यता शास्त्रों और पुराणों की दुर्दशा यदि किसी को देखनी हो तो पादरी और मौलवियों की पुस्तकोंसे भी कहीं बढ़कर हिन्दू जाति के कट्टर पर गुप्त शत्रु दयानन्द रचित स० प्र० को देखलो। इसी पुस्तक के आधार पर आज मुसलमान आदि गैर हिन्दू भी हिन्दुओं के पुराणों और अवतारादि पवित्र सिद्धान्तों पर आक्षेप करने के लिये प्रतिक्षण तैयार रहते हैं। *

नोट—सन् १९२४ अप्रैल महीने के 'यंग इण्डिया' में श्रीयुत गान्धीने जी भी इस पुस्तकको और इस पुस्तकके मानने वालों को भी बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा है, बल्कि पं० नरदेव जी शास्त्री जो कि आर्यसमाज के प्रमुख पण्डित हैं तथा विद्यासभा के प्रधान भी हैं उनकी कल्पनाके अनुसार ही विचार कर देखा जाय तो आर्यसमाज ईसाई धर्म का प्रतिरूपक ही ठहरता है। जिस प्रकार १० नियम Ten Commandments. ईसाइयों के यहां हैं उसी प्रकार दश नियम आर्यसमाज में भी हैं। अधिवेशन भी रविवार के रविवार होते हैं छूत छात दोनों के दोनों नहीं मानते गिरजाघर की भांति समाजमन्दिर भी मूर्त्तिशून्य होता है। देव पूजा पाठ चन्दन, माला, आदि दोनों तरफ साफ है। वर्णव्यवस्था को गुण कर्म स्वभाव से दोनों एक जैसी मानते हैं। ईश्वर भी दोनों के मत में निराकार ही है। युवती विवाह, नियोग, पत्नी का पति को और पति का पत्नी को छोड़ देना दोनों मानते हैं तात्पर्य प्रत्येक बात में साम्य दिखाता है। हिन्दुओ! सनातनधर्मावलम्बियो! आर्यसमाज ने दया की आनन्द के साथ शताब्दी तो कर ही दी। श्रद्धा का भी आनन्द सहित श्राद्ध होचुका, अब जगत् का तुम्हीं पर एक मात्र विश्वास है, अन्यथा कल्याण होते नहीं दीखता।

स्वामी जी यदि खण्डन ही करने चले थे तो क्या अच्छा होता कि अपशब्दों को अपने यहां ही जमा रहने देते और शास्त्र व युक्ति द्वारा जनताके सन्मुख अपने भावोंको प्रेमसे प्रकट करते तो आज हिन्दूसंगठनको भी इतना जबरदस्त धक्का न पहुँचता । हमारी धारणा है कि जब तक संसार में स०प्र० की पुस्तक रहेगी कम से कम हिन्दुओं के लिये शान्ति और भ्रातृभाव तो एक जन्मान्तरीण वस्तु होजावेगी ।

यह सब जानते हैं कि संसार में प्लेग की बीमारी चूहे से फैलती है कहते हैं कि भारतवर्ष में सबसे पहिले प्लेग बम्बईमें फैला था । यही बात वर्तमान आर्यसमाज पर भी लागू हो सकती है क्योंकि स्वामी जी को भी यह प्लेग (ज्ञान) शिवरात्रि के चूहे ही से हुई थी और उन्होंने भी सबसे पहली आर्यसमाज सन् १८७२ में बम्बई में ही कायम किया । चूहे का स्वभाव कीमती से कीमती भी चीज़ोंको कतर डालना है इनका काम भी वेद शास्त्र और पुराणों को कतर ब्योंत करना ही है यदि दूसरे शब्दों में आर्यसमाज को "मूसापन्थ" भी कहदें तो अनुचित न होगा क्योंकि स्वामी जी ने मूसा को गुरू धारण कर ही यह पन्थ प्लेग की भांति संसार की शान्ति व सुख अपहरण करने के लिये ही प्रचलित किया । भगवान् कल्याण करे !

लेकिन कई एक भावुकों की धारणा है कि स्वा० दयानन्द ने जैनधर्म के अन्तर्गत ढुंढक सम्प्रदाय का अनुकरण-

आर्यसमाज बनाया है। ढुण्ढक सम्प्रदायी जैनी मूर्त्ति और तीर्थ नहीं मानते स्वा० जी का भी यही सिद्धान्त है। वे लोग जैनों को भ्रान्त कहते हैं तो बाबा जी की सारी बई (स० प्र०) इसी लिये है कि सब लोग भ्रान्त हैं केवल हमही सच्चे और निर्भ्रान्त हैं। ढुण्ढक सम्पूर्ण जैन ग्रन्थों को नहीं मानते अर्थात् सूत्र, भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णि, टीका यह पञ्चाङ्गी कहलाती है। लेकिन ढुण्ढक केवल सूत्रों को ही प्रमाण मानते हैं उक्त स्वा० जी भी केवल मंत्रभाग को ही वेद मानते हैं ढुण्ढक सब उपनिषद्पुराण इतिहासको प्रमाण नहीं मानते तथा सम्पूर्ण सूत्रों को भी प्रमाण नहीं मानते अर्थात् पैंतालीस सूत्र ग्रंथों में से केवल ३२ ही ग्रंथ प्रमाण मानते हैं और बाकी १३ अप्रमाण मानते हैं। यदि उन ३२ ही में ४५ के नाम प्रमाण मानने में आजाँय तो उस पाठ को प्रक्षिप्त कह कर छुटकारा कर देते हैं। स्वा० दयानन्द भी सब वेदों को प्रमाण नहीं मानते केवल संहिता भाग को ही प्रमाण मानते हैं और संहिता भाग में भी जब अवतार श्राद्ध तीर्थ प्रतिमा पूजन आदि के प्रमाण मिलते हैं तो उसका अयुक्त अर्थ करने लगते हैं और यदि उससे भी छुटकारा न हुआ तो ढुण्ढकों की युक्ति तैयार रखते हैं।

समस्त आचार्यों ने "मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" 'मंत्र ब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः" वेद का लक्षण किया है। तो फिर केवल मंत्र भाग को ही वेद मानना इसमें स्वा० जी की

अपनी धुन ही स्वतः प्रमाण थी, वेदों का स्वतः प्रमाण मानना तो एक दम्भ था।

जब कि 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं" इस मनु वचन का प्रमाण देकर स्वा० जी भी वेदोंका प्रयोजन यज्ञसिद्धि ही मानते हैं तो कहिये यज्ञ करने का विधान बिना ब्राह्मण भाग के कैसे जान लोगे? अस्तु हमें यहां ब्राह्मणभाग का वेदत्व नहीं सिद्ध करना कहना यह है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा है जिसका कि स्त्री शूद्र को अधिकार नहीं।

वेदभाष्यकार श्रुतिसर्वस्व सायणाचार्य ऋग्वेद के उपोद्घात में लिखते हैं कि–

"तदुभय (धर्मब्रह्म) ज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी। तत्र त्रैवर्णिकः पुरुषः। स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायामुपनयनाभावेनाध्ययनराहित्याद् वेदेऽधिकारः प्रतिषिद्धः। धर्म ब्रह्मज्ञानन्तु पुराणादिमुखेनोत्पाद्यते। तस्मात् त्रैवर्णिक पुरुषाणां वेदमुखेनार्थज्ञानेऽधिकारः।

जिस वेदाधिकार का कोलाहल आज मच रहा है यद्यपि इस रूप में और इतना नहीं तदपि भगवान् सायणाचार्य के ज़माने में भी था। आचार्यवर को पहले ही सूझ गई थी कि बीसवीं सदी के मूसापन्थी आप शास्त्रों के पीछे न चलकर अपनी अकल के पीछे शास्त्र चलावेंगे। अतः उपरितन सन्दर्भको लिख कर बता गये कि वेद का अधिकारी वही हो सकता है जो कि धर्म ब्रह्म ज्ञान का भिक्षुक हो, वह सिवाय त्रैवर्णिक पु-

रुष अर्थात्-ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के और कोई नहीं हो सकता ।

यद्यपि स्त्री और शूद्रों के लिये भी धर्म और ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होती है परन्तु उन (स्त्री शूद्र) का उपनयन न होने के कारण वेदाध्ययन नहीं होसकता । अतएव वे वेदाधिकारी नहीं ।

जिस धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान को द्विजाति वेदों से प्राप्त कर सकती है उसी धर्म और ब्रह्मज्ञान को स्त्री और शूद्रजाति इतिहास पुराणों से प्राप्त करे ।

इस लिये वेद पढ़ने का अधिकार सिवाय त्रैवर्णिक पुरुषों के और किसी को नहीं । बात भी ठीक ही है-

"अर्क्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥,,

जिस मधु (शहद) को पाने के लिये हमें पहाड़ की चोटी पर चढ़ना पड़े, वह यदि अनायास ही घर के कोने में मिल जावे तो कौन मूर्ख होगा कि अभीप्सित वस्तु के प्राप्त हो जाने पर भी वृथा ही परिश्रम उठावेगा ।

वेदविद्या के पढ़ने के लिये त्रैवर्णिक पुरुषों को अविप्लुत ब्रह्मचर्य पूर्वक शीत, वात, आतप सहन करते हुए जिस कष्ट का सामना करना पड़ता है वह कहते नहीं बनता स्मरण करते ही शरीर पानी २ होजाता है ।

जिस प्रकार डाक्टरी, वैरिस्टरी और इञ्जिनियरी आदि

काम करने के लिये पहिले विषय योग्यताकी पूर्ण आवश्यकता है उसी प्रकार वेद विद्या को प्राप्ति के लिये भी यथोचित अधिकार और शुभाचरण की अत्यावश्यकता है साधारण बुद्धि वाले का तो ठिकाना ही क्या इसमें बड़े २ शास्त्रवेत्ताओं की भी बुद्धि पथरिया जाती है। ईश्वरीय ज्ञान होने से अनादि अनन्त है।

इतनी उच्च शिक्षा से दिमाग़ी ताकत अवश्य बढ़जाती है लेकिन प्रायः शरीर कमजोर पड़ जाता है। स्त्रियों के लिये तो गर्भाधानादि के लिये शारीरिक शक्ति की बड़ी आवश्यकता है शूद्रोंको उनका पेशा ही उनकी पवित्रतामें बाधक है इस लोक प्रत्यक्ष और अनुभवसिद्ध घटना से भी स्त्री शूद्र को उनके व्यावहारिक जीवन के लिये वेदविद्या उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकती।

लेकिन कुछ वर्षों से कतिपय विकृतमस्तिष्क लोगों ने ब्राह्मणों के विरुद्ध शूद्रवर्ग को वे बुनियादी बातोंसे भड़काना शुरू कर दिया कि—देखो! ब्राह्मणों ने तुम्हें वेदपाठ का अधिकार नहीं दिया आओ! हम तुम्हें वेद पढ़ायेंगे। ओ नाइओ! सुनो! प्राचीन समय में तुम ढालतलवार से सुसज्जित बाक़ायदा क्षत्रिय थे अब तुम्हारी ढाल उस्तरा घिसने की पथरी बनगई और तलवार नखकटनी तरकसको औजार रखने की पोटरी बनवा डाला।

ओ भङ्गिओ! तुमने रङ्ग में भंग मचा दिया था जिससे

भङ्गी कहलाये। तुम तो क्षत्रिय थे तुम्हें झाड़ू पोचोंने दिया यह तो तुम्हारा बाखोंका मुट्ठा था। वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से सब के साझे है। जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र सूर्य आदि सब मनुष्यमात्र के लिये बनाये हैं वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं। क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे? देवियो! गायत्री और संध्या शब्द जबकि हैं ही स्त्रीलिङ्ग तो तुम्हें वेद पढ़ने से कौन रोक सकता है? जननी के जिस कोखसे बालक पैदा होता है कन्या भी उसीसे जनती है। फिर भला! तुम्हारा अधिकार पुरुषों के समान क्यों न हो देखो गार्गी आदि स्त्रियां आजन्म ब्रह्मचारिणी रह वेदों की विदुषी बनकर "ब्रह्मवादिनी" कहलाईं-इत्यादि २ गुनगुनाते रहते हैं।

हमें इन त्रिशङ्कुओं की बुद्धि पर यह देख कर कि-"हम तो डूब चले सनम, लेकिन तुम्हें भी ले डूबेंगे" तरस आता है आप तो धर्म कर्म से भ्रष्ट हुये सो हुये लेकिन औरों को भी बरगलाते फिरते हैं। और खास कर जगत् पूज्य ब्रह्मर्षियों के पीछे तो हाथ धोकर पड़े हुये हैं। प्रत्येक जाति अपनी उन्नति के लिये चार साधन रखती है-लियाक़त ताक़त तिज़ारत और ख़िदमत। यही वर्ण धर्म के अनुरूप क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के लिये भी विहित है देखा जाता है कि योरुप में भी रूपान्तर में वर्णव्यवस्था मौजूद

है । धर्म के बताने वाले (Bishops) पादरी गण, राजनीति के प्रचारार्थ (Lord Family) देशको धनवान् बनाने वाले (Merchants) व्यापारी वर्ग और इन तीनों की सेवा कर अपना निर्वाह करने वाला लेबर पार्टी मजदूर दल है । अन्तर इतना ही है कि उन देशों में कृत्रिम और भारत में यह विभाग शास्त्र सिद्ध है ।

भारतीय शास्त्र विधान के अनुसार और वर्णोंको अमीरी और ब्राह्मणों को फकीरी पल्ले पड़ी है । क्योंकि राज्य का मालिक क्षत्रियवर्ग है धन पदार्थ और कृषि सूद, व्याज व्यापार तथा सांसारिक द्रव्य वैश्य वर्णके हवाले है । कलाकौशल और शिल्प विद्या जो कि बड़ी लाभदायक वस्तु है वह शूद्रों के लिये नियत की गई है बाकी रही फकीरी, सो बिचारे ब्राह्मणों के पल्ले पड़ी है । राजपाट धन आदि सांसारिक समस्त सुख सम्पत्ति छोड़ शीतवातातप सहन कर तीव्र तप करने वाले ब्राह्मणों को स्वार्थी बताना बड़ी दिलेरी और हौसले का काम हैं ।

अधिकार की ही बात कहनी है तो बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनका अधिकार केवल वर्ण विशेष को ही है जैसे राजसूय यज्ञ को क्षत्रिय ही कर सकता है कृषि और व्यापार में वैश्य का ही अधिकार है, ब्राह्मण यदि आपद्धर्म में कुछ करना भी चाहे तो शास्त्र फ़ौरन पिकेटिङ्ग (धरना) कर देते हैं कि तेल न वेंचे गुड़ घी न वेंचे, दूध न वेंचे, वग़ैरह तो क्या इसमें तु-

म्हारी बुद्धि के अनुसार शत्रुता (१) समझें ?

जिस प्रकार खास २ अधिकार को किसी एक या दो ही वर्णों के लिये शास्त्रकारों ने नियत कर दिया है दूसरे वर्ण उसे प्राप्त नहीं कर सकते, यदि इसी प्रकार शूद्रोंको वेदाधिकार न भी दिया तो इसमें शंका करने की बात ही कौनसी है यों तो जिस प्रकार वेदाधिकार की आड़ में तुम शूद्रों को उकसाते फिरते हो उसी प्रकर शिल्पविद्या जिसका कि केवल शूद्रों को ही अधिकार है-राजसूय यज्ञ—जिसका कि केवल क्षत्रियों को ही अधिकार है इनके अधिकार के विषय में तुम उन वर्णों को भी जिन्हें कि इनका अधिकार नहीं, दस सच्च झूठी सुनाकर उकसाने लगजाओ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

शूद्रों को इस प्रकार उकसा २ कर उनके हृदय में द्विजाति और अपने धर्म पुस्तकों के विषय में भ्रम व द्वेष पैदा कर

नोट—१ "अविक्रेयं लवणं पक्वमन्नं दधि क्षीरं मधु तैलं घृतञ्च। तिला मांसं फलमूलानि शाकं रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च॥ २॥
म० भा० उद्योगपर्व ३८ अ०॥

लवण, पक्वान्न, दही, दूध, मधु, तैल, घृत, तिल, मांस, फल, मूल, शाक, रञ्जितवस्त्र, सर्वप्रकार के गन्ध द्रव्य और गुड़ ये सब वस्तुएं ब्राह्मण के वेचने योग्य नहीं। इसी प्रकार पराशरस्मृति २।७ में भी लिखा है 'तिला रसा न विक्रेयाः' ब्राह्मणश्चेत्कृषिं कुर्यात्तन्महादोषमाप्नुयात्, ८। ब्राह्मण को तिल और सर्वप्रकार के रस नहीं वेचने चाहिये। ब्राह्मण को खेती करने से बड़ा पाप लगता है।

जो कुछ फल मिलना है वह तो बम्बई में भरी कान्फ्रेन्स के अन्दर इनके देखते २ मनुस्मृति जैसी धर्मपुस्तक की होली मनाकर अछूतों ने बता दिया। लेकिन इन धूर्त्तों के कान में जूं तक नहीं रेंगी।

ईश्वर के पक्षपाती बनाने का उत्तर भी बहुत कुछ ऊपर के ही उद्धरण में आचुका और यह भी इन से कोई पूछे कि जब कि वेदों की ही भान्ति सृष्टि भी ईश्वर ने ही रची तो क्या कारण है कि एक तो कश्मीर का भी देश ही है जो कि विविध भान्तिके फल फूलों से सुसज्जित तथा सरसब्ज सघन घन श्रेणियों और सुशीतल,एवं स्वादु सलिल से भरपूर नदियों और नदों से आप्लावित हो 'भारत वर्ष का बाग़' कहलाने का सौभाग्य रखता है लेकिन मारवाड़ का भी एक देश ही है जहां कि पीने को भी पानी मुश्किल से मिलता है और जिसके लम्बे २ रेतीले मैदानों में (रेगिस्तानों में) शिर छिपाने को भी छांह नहीं। बिलोचिस्तान के भी खुश्क बञ्जर पहाड़ ही हैं जिन्हें देख कर डर लगता है। ईस्ट अफ्रिका के हबशीयों को पेट भर कच्चा मांस भी नसीब नहीं लेकिन पंजाब की उर्वरा भूमि की कणक से तो विलायत भी पलता है। मुलतान की गर्मी में लोग जल भुन जाते हैं लेकिन कश्मीर और बद्रीनारायण के पहाड़ोंमें लिहाफ़ के नीचे भी सर्दी ही लगती है। सृष्टि सब परमात्मा की बनाई हुई,फिर किसीको सर्दीसे ठिठराना तो किसीको गर्मी से तड़फाना, किसी देश में कुछ और

किसी में कुछ यह आकाश पाताल का फ़रक क्यों? क्या इस में परमात्मा का पक्षपात नहीं? जब कि देश, काल, ऋतु आदि ईश निर्मित सृष्टि में सर्वत्र विषमता मौजूद है, कोई चीज़ किसी को नसीब है, तो कोई किसी को। फिर वेदों के अधिकार विषयक वैषम्य में ईशनिर्मित होने के नाते से हुज्जत बाजी करना निपट मूर्खता नहीं तो और क्या होसकता है?

रही स्त्रियों की गायत्री और संध्या वाली बात, उत्तर में इन अक़ल के कोल्हुओं से पूछा जाय कि यदि किसी शब्द के लिङ्ग पर ही अधिकार का फ़ैसला किया जावे तो 'ब्रह्म' तथा 'ज्ञान' शब्दों के नपुंसक लिङ्ग होने से एवं भारती-गीर्वाग् वाणी सरस्वती-आदि विद्या शब्द और उसके पर्यायवाचक शब्दोंके स्त्रीलिङ्ग होने से क्यों न ब्रह्म ज्ञान और यावन्मात्र विद्याओं का क्रमशः हिजड़ों और स्त्रियों को ही अधिकार देदिये जांय? और तुम बैठे २ मक्खियाँ मारा करो?

समाजी का यह भी कहना कि कन्या और बालक माता के एक ही कोख से पैदा होते हैं, सरासर झूठ और सफ़ेद झूठ है बल्कि शास्त्र और लोक प्रत्यक्ष के विरुद्ध भी है। और यदि यह है तो तुम्हारे दयानन्द ने कन्या और बालक का दाय भाग में समान अधिकार क्यों नहीं माना?

स्त्री पुरुषों के समानाधिकार की भी बात सुनिये? मन्वादि धर्म शास्त्र और वेद भगवान् तो स्त्री-पुरुषों के एक जैसे अधिकार पहिले ही कई अंशों में नहीं मानते लेकिन कानून

कुदरत ने भी इनकी शरीर रचना से ही यह बात शुरू कर दी न सिर्फ़ मनुष्यों में ही अपितु पशु पक्षियों में भी आपको यह बात देखने को मिलेगी। नर की अपेक्षा मादा सर्वदा कमज़ोर रहती है। बैल की अपेक्षा गौ, बकरे की अपेक्षा बकरी घोड़े की अपेक्षा घोड़ी एवं मुर्गे की अपेक्षा मुर्गी को ही देख लीजिये इसी प्रकार पुरुष की अपेक्षा नारी का शरीर कोमल और बलहीन होता है। यह अन्तर आपका और मेरा नहीं किया हुआ है। इसके अलावा मुर्गे के शिर पर कलगी होती है पर मुर्गी के नहीं। मोर की कलगी और मोर पंख भी होते हैं पर मोरनी के नहीं। चिड़े का मुंह काला होता है लेकिन चिड़िया का नहीं बैल का ककुद ऊंचा गौ को ककुद ही नहीं। भैंसे का गला भैंस की अपेक्षा सर्वदा नीचे की ओर मोटा रहता है।

जो अन्न हम खाते हैं वही हमारी माता और बहनें भी खाती हैं, रहते भी एक ही देश में है-फिर कारण क्या है कि उनके मुख पर चर्बी का भाग अधिक और हमारे मुख पर कम हो जिससे हमारे तो दाढ़ी मूंछ निकल आवे और उनके नहीं ?

एक पुरुष की दश स्त्रियां हों तो वर्ष में १० सन्तान पैदा कर सकता है, लेकिन स्त्री के दश पुरुष होने पर भी सन्तान एक ही होगी ?

स्त्री के पेट में गर्भाशय होता है, तुम्हारे क्यों नहीं ? स्त्री गर्भ धारण कर कई सन्तान पैदा करती है, तो इन समान अ-

धिकार बताने वालों से पूछो कि तुम भी ६ महीने गर्भ धारण कर एक भी सन्तान पैदा कर दिखा सकते हो ?

तात्पर्य–यों भी स्त्री के वेष, भूषा, अङ्ग, प्रत्यङ्ग, शरीर और वाणी में सर्वत्र ही पुरुषों की वनिस्वत अन्तर है और श्रुति स्मृति, सदाचार और कानून कुदरत ये चारों स्त्री पुरुष के समान स्वत्व में अन्तर डाल रहे हैं तो फिर समानता २ चिल्लाना निरा उजड्डपना नहीं तो और क्या ?

ईश्वर न करे संसार में सबका एक हक हो जावे। नहीं तो बड़े २ अनर्थ होने लगेंगे। सबक याद न करने पर मास्टर लड़के को एक थप्पड़ मारे तो लड़का आगे से दो जड़ कर कह देगा कि सब के हक्क बराबर हैं। मजिस्ट्रेट मुजरिम को कहे कि हम तुझे तीन महीने की सज़ा देते हैं तो मुज़रिम मजिस्ट्रेट को कह बैठे कि हम तुम्हें छः वर्ष के लिये जेल खाने भेजते हैं क्योंकि हक्क सबके बराबर हैं। घोड़ा सवार से कह देगा दोनों ईश्वर के बनाये हैं इस लिये छः महीने तुम हमारे ऊपर चढ़ो और छः महीने हम तुम्हारे ऊपर ...... ये सब एक हक्क की बातें हैं। सो स्त्री पुरुषों का भी एक हक न आज तक हुआ और न आगे ही सम्भव है। पूर्व लिख चुके हैं कि नर और नारी का समान अधिकार तो दयानन्द ने भी दायभाग (पैतृक सम्पत्ति के विभाग) में नहीं माना लेकिन इन मूसलचन्दों ने तो दयानन्द को ही नहीं माना।

"ब्रह्मवादिनी बनने के लिये आजन्म ब्रह्मचारी रहना और

वेदों को पढ़ कर ही बनना यह आवश्यक नहीं। बृहदारण्य-कोपनिषद् अ० ४ ब्रा० ५ में लिखा है कि—

"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्री प्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी,,

महर्षि याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी नाम की दो स्त्रियां थो। उनमें मैत्रेयी 'ब्रह्मवादिनी' थी लेकिन कात्यायनी सर्वसाधारण स्त्रियों की भान्ति गृहस्थ परायण थी।

अब देखिये देवी मैत्रेयी आजन्म ब्रह्मचारिणी न थीं लेकिन शास्त्रों ने उसे ब्रह्मवादिनी लिखा। रही यह बात कि बिना वेद पढ़े ही ब्रह्मवादिनी कैसे हो सकती है इस विषय में पहले ही श्रुति सर्वस्व भगवान् सायणाचार्य का मन्तव्य उद्धृत करते हुये लिख चुके हैं कि वही ब्रह्मज्ञान, जो कि वेदों से मिलता है यदि पुराण इतिहास आदि द्वारा मिल सकता है तो फिर इस द्राविड़ प्राणायाम की आवश्यकता ही क्या है?

शोक तो इस बात का है कि हठधर्मी लोग वेद शास्त्रों को बालाये ताक रख कर धर्म का भी फैसला वोटों पर ही कर डालते हैं। शास्त्र तो कहते हैं कि—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः।
मनु० १२। ११३।

अर्थात्—वेद वेत्ता ब्राह्मण–चाहे अकेला भी क्यों न हो जो कुछ व्यवस्था देदे वही धर्म है चाहे मुक़ाबले में उसके विरुद्ध दश हज़ार मूर्खों के वोट ही क्यों न हों? लेकिन धर्म के विषय में उनका आदर नहीं। तात्पर्य जिस प्रकार किसी रोगी के विषय में योग्य वैद्य, मुकद्दमा हो तो लायक़ वकील और बहुमूल्य हीरा आदि रत्न के लिये एक लायक़ जौहरी की ही राय काफी होती है इसी प्रकार धर्मनिर्णय के लिये हमेशा धर्मशास्त्रियों की ही शरण लेनी चाहिये। भगवान् इस वोटों की बीमारी से भारतीयों को बचाये रक्खे।

एक बात और याद आगई लगते हाथ उसका भी उत्तर सुन लीजिये। सत्यार्थ प्रकाश १० आवृत्ति ११ समुल्लास और पृ० ३८७ पर सूलापन्थके प्रवर्तक मस्करी महाशय फर्माते हैं कि-

"वेद पढ़ने व सुनने का अधिकार सबको है देखो गार्गी आदि स्त्रियाँ और छान्दोग्य में जानश्रुति शूद्र ने भी वेद 'रैक मुनि' के पास पढ़ा था और यजुर्वेद के २६ वें अध्याय के दूसरे मंत्र में स्पष्ट लिखा है कि वेदों के पढ़ने और सुनने का का अधिकार मनुष्यमात्र को है" यह स० प्र० का अविकल लेख है। इस लेखमें मस्करी महाशय ने खूबही मस्करी मचाई उत्तर सुनने से पेश्तर जरा वृद्ध स० ध० के अतीतकाल के गौरव पर भी दृष्टिपात करते चलिये।

क्या हुआ, वह भी एक जमाना ही था जब कि लोग ईश्वर की सत्ता से ही मुंह मोड़ बैठे थे। नास्तिकशिरोमणि

चार्वाक की धाक समस्त जगत् में जमी हुई थी। पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक "त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्ड धूर्त्त निशाचराः" इत्यादि का ही बोल बाला था। "अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं,धूर्त्तवार्तया " का डिण्डिमघोष वधिर किये डालता था। "अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्म पुण्ड्रकम्। प्रज्ञा पौरुषहीनानां जीवो जल्पति जीविका" की सुरीली सहनाई और "देवैर्द्धिजैः कृता ग्रन्थाः पन्था येषां तदानृतौ। गां नतैः किं न तैर्व्यक्तं ततोप्यात्माधरीकृतः" का भेरीनाद अटक से कटक और हिमालय से कन्याकुमारी तक सुनाई देता था।

"अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे। कुलेत्र कामिनी मूले का जाति परिकल्पना" के कलकल से जाति भी कल्पना मात्र ही समझी जाने लगी यहां तक कि—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" के सिद्धान्त का प्रचार एवं प्रसार ही संसार में सार समझा जाने लगा, कहां तक कहें तात्पर्य-

'तं तमाचरतमानन्दं यं यं मनसेच्छथ के रिमार्क पास होचुके थे तथा—

"को हि वेदास्त्यमुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुतिः
तस्मात्सावयादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम्॥
न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥

द्वारा परलोक, परमात्मा, पुनर्जन्म, वेद, वर्णाश्रम आदि २ समस्त बातों का जो कि आस्तिक नास्तिक के पहिचान की कसौटी हैं घोर खण्डन कर डाला और उनके स्थान पर—

'स्वाच्छन्द्यमृच्छतानन्द-कन्दलीकन्दमेककम्।

की मनोहारिणी विषयोन्मुखिनी तूती बोलने लगी, अर्थात् जिस प्रकारभी होसके एकमात्र स्वच्छन्दताको ही हासिल करो जो कि—आनन्दरूपी बेल का एक मीठा फल है। संसार और चाहताही क्या है? भला! सितशर्करासम मधुर और नवनीत सम सुकोमल एवं ललित ऐसे अभीप्सित उपदेश और विषय जन्य प्रत्यक्ष आनन्द को छोड़ कौन संसारी होगा जो कि निम्ब के सदृश कटु एवं अरुचिकर परमार्थ के उपदेश को सुने, माने?

यह नहीं बल्कि इन लौकायतिकों ने स० ध० के सिद्धान्तों की वज्रभित्ति को हिलाने के लिये मुकाबले पर अकाट्य युक्तियों की बौछार मचाने को षड्दर्शन रचना भी कर डाली हां! माना कि ये थे युक्तिवाद के प्रकाण्ड पण्डित, जिनके युक्तियुक्त हेतुवाद ने जगत् को चमत्कृत कर दिया था। वे थे नास्तिक, और वे थे किसी कदर विद्वान्!

उस समय भी जब कि उनकी ही छाया से अनुप्राणित आधुनिक मत मतान्तर-जो कि वर्षा के अनन्तर ज़मीन से पैदा होने वाले वर्षाती कीटों और दद्दुरों की भान्ति उठ खड़े

होने वाले हैं, टिड्डियों की तरह दलबन्दी से लहलहाती फसल को उजाड़ देश को वीरान कर देने वाले हैं, और मच्छरों की तरह चारों तरफ गुनगुनाते फिरते हैं माता के गर्भ ही में थे, तो एक यह बूढ़ा सनातनधर्म ही था जिससे इन्हें मुंह की खानी पड़ी।

स० ध० के प्रचण्ड प्रचारक जगद्गुरु भगवान् शङ्कराचार्य को सूर्य और चन्द्रमा की भान्ति समस्त जगत् जानता है आपके दक्षिण भारत से उठे, स० ध० के प्रचण्ड प्रचारक रूपी पताका के पवनपूर ने समस्त उत्तर दक्षिण भारत से बौद्ध प्रचार रूपी घटाटोप घन मण्डल को जो कि स० ध० रूपी सूर्यमण्डल पर मण्डला रहे थे और जिन्होंने जगत् को ज्ञान के प्रकाश से वञ्चित कर रक्खा था छिन्न भिन्न कर चीन जापान और ईरान आदि देशों की तरफ रवाना कर दिया, और हिमालय के उन्नत मस्तक पर फिर से अपनी विजय वैजयन्ती फहराने लगी। स० ध० का सूर्य फिर से एक वार सहस्रों किरणों के साथ भारत गगन पर प्रचण्ड प्रताप से देदीप्यमान हो तपने लगा। संसार का अज्ञानान्धकार नास्तिक उलूकों के साथ ही कहीं पर्वत कन्दराओं में जा विलीन हो गया।

परिडत प्रवर आचार्य उदयन ने तो ईश्वर तक चिनौती दे डाली थी कि—"उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः" सचमुच ही "न्यायकुसुमाञ्जलि" जैसे ग्रन्थरत्न को रच कर नास्तिकों के वो दांत खट्टे किये कि आखिर दिवाला ही नि-

काल कर छोड़ा। ससार भर के विद्वानों पर युग युगान्तर के लिये धाक बैठी रहेगी।

पाण्डित्य के ताव का और गुणगारिमा के गुमान का तो कहना ही क्या है, कहते हैं कि "न हि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः" यह सब कुछ होने पर भी लेखनी खुजलाती ही रही, एकवार तो प्रशान्त महासागर में तहलका मचा दिया। धन्य है सनातनधर्म! इधर प्रसिद्ध मीमांसक स्वा० कुमारिल भट्ट ही थे। जिन्हों ने कि "किं करोमि क गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति ?" अर्थात् हा विधाता! क्या करूं और कहां जाऊं ? कौन ऐसा माई का लाल निकलेगा जो कि वेदों का उद्धार करे। इस प्रकार बिलखती अश्रुप्लुताक्षी गवाक्षस्थित राज कन्या के गगन भेदी आर्त्तनाद को सुन, बड़ी सिंह गर्जना से उत्तर दिया था कि "मा बिभेहि वरारोहे भट्टो जागर्त्ति भूतले" अर्थात्-हे देवि! चिन्ता की कोई बात नहीं, कुमारिल भट्ट अभी जगत् में जीता है।

वास्तव में इस बूढ़े धर्म के सिपाहियों ने नास्तिकों से टक्कर भी बोली कि उन बेचारों को लेने के देने पड़ गये और सूद ब्याज सहित देने पड़े।

भगवान् शंकर के प्रस्थानत्रयी भाष्य से तो नास्तिक गज चीत्कार मार भाग ही निकले।

उपर्युक्त इस उद्भट पण्डितत्रयी से प्रतिभट बेचारे भुवन में भटकते ही फिरे।

जब कि वैसी २ विषम एवं विकट घाटियों से भी इस परमपावन वृद्ध स० ध० को गुज़रना पड़ा था तो आज की तो बात ही क्या है? आज किसी न किसी रूप में नास्तिक प्रतिरूपक ईश्वर और वेदों को मानते तो हैं। पूरा न सही, अधूरा (निराकार) ही सही। वेद भी लंगड़े (ब्राह्मण भाग रहित) ही सही। सत्ता से तो इन्कार नहीं।

इसी प्रकार श्राद्ध, वर्णव्यवस्था आदि २ सिद्धान्त भी किसी न किसी रूप में स्वीकृत तो हैं? फिर ये बेचारे किस बाग़ की गाजर मूली हैं। आज न सही कल कभी न कभी आखिरकार "सत्यमेव जयते नानृतम्" सत्य की ही जय होती है। और यह बाँये हाथ का खेल है। सिर्फ वृद्ध स० ध० इन के स्वभावसुलभ बालचापल को "डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम्" न्याय से क्षमा करता रहता है। ये चाहे वेद शास्त्रों के नाम पर कितनी भी जालसाज़ी करलें विद्वान् लोग समझते हैं।

एक हमारे मित्र ने पूंछा कि आप इन मूलापन्थियों से ही क्यों विशेष कर द्वन्द्व छेड़ते हैं। दूसरे भी तो मूसापन्थी (मुसलमान ईसाई) द्वन्द्व के लिये हैं ही? हमने कहा कि उनसे तुम निबट लो, तात्पर्य मूलापन्थियों के ध्वंस से है। मुसलमान और ईसाई जो कुछ भी कहेंगे कुरान और बाइबिल का नाम लेकर कहेंगे जिन्हें कि आस्तिक हिन्दू पहले ही उपे

द्दा बुद्धि से देखते हैं। यदि वे भी हमारे पूज्य वेदों के नाम पर ऐसी ही जालसाजी करेंगे तो हमें वे भी धर्म के अंश में उतने ही बुरे लगेंगे जितने कि आर्यसमाजी, स०ध० के प्राञ्जल परिडत छोकड़ों के इस छिछोरपन को नहीं देख सकते। अस्तु-

जानश्रुति के वेद पढ़ने की भी बात सुनिये, यह (जानश्रुति) जाति का क्षत्रिय था शूद्र नहीं यह बात पूज्यचरण स्व० शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्पष्ट लिखी है कि "शूद्रवद् वा धनेनैवैनं विद्याग्रहणायोपजगाम, न तु शुश्रूषया न तु जात्यायं शूद्र इति"

अर्थात् शूद्र की तरह धन देकर जानश्रुति रैक्वमुनि से वेद पढ़ना चाहता था गुरुसेवा करके नहीं लेकिन यह जानश्रुति जाति से शूद्र नहीं था। प्राचीन काल में द्विजवर्ण के बालक 'गुरुशुश्रूषया विद्या" गुरुसेवा कर विद्या पढ़ा करते थे और इसी लिये रंक से लेकर राजा तक हर एक के लिये विद्याद्वार खुला रहता था। आज के जमाने की तरह फीस नहीं भरनी पड़ती थी जिससे कि वेचारे ग़रीबों की सन्तान मूर्ख ही रह जाय। वेद भगवान् कहते हैं।

"ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्क मीषिरे।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते॥

३ अथर्व ५।४।१६

अर्थात् जो ब्राह्मण की ओर थूकते हैं या उस पर फीस

लगाते हैं वे लोहू की नदियों में वालों को खाते हैं। चूंकि जान-श्रुति क्षत्रिय होता हुआ भी सेवा भाव को छोड़ धन मद से गुरु से वेदविद्या प्राप्त करना चाहता था, अतः उसे शूद्रवत् सम्बोधन दिया गया-यह उपचार है।

इस प्रकारका बोल चाल का व्यवहार (महावरा) सर्वत्र ही देखा जाता है। किसी इन्द्रिय परायण विवेकशून्य व्यक्ति को हर कोई पशु कह देता है तो यह एक उपचार है। यह आव-श्यक नहीं कि वह जरूर ही पशु हो और उसके सींग पूंछ भी लग जांय। अल्पबुद्धि दयानन्द की तंग खोपड़ीमें यह बात न समाई जिससे जानश्रुति को शूद्र लिख मारा।

स्वामी आनन्दगिरि भी लिखते हैं कि--

"जानश्रुतेः सति क्षत्रियत्वे कथं शूद्रसम्बोधन मित्याह कथमिति न जातिशूद्रो जानश्रुतिः किन्तु क्षत्रियः,,

जान श्रुति का शूद्र सम्बोधन औपचारिक है जाति से वह क्षत्रिय था। वेदान्तदर्शन के 'क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात्' १।३।३५। इस सूत्र में महामहिम महर्षि व्यासदेव ने जानश्रुति को क्षत्रिय ही कहा है, शूद्र नहीं। इत-ने महामहिमशाली भगवान् व्यास और शंकर के सामने वेद शास्त्रशून्य दयानन्द की कौन कहे।

आर्यसमाज के प्रमुख पं० नरदेव शास्त्री जी वेदतीर्थ ने

अपने आर्यसमाज के इतिहास में स्वामी दयानन्द के बावत ठीक ही लिखा कि-"स्वामी जी आये, गये, यह सब कुछ हुवा सही पर स्वा० जी ने किसी शास्त्र पर कोई अद्भुत भाष्य क्यों नहीं लिखा? जिससे संसार चकित रह जाता? शङ्कर भाष्य की दहल देखिये। इसी प्रकार का भाष्य लिख जाते तो संसार भर के विद्वानों पर युग युगान्तर तक धाक बैठ जाती हमको दुःख होता है जब हम देखते हैं कि ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं जिसकी धाक संसार के विद्वानों पर बैठे यह धाक दर्शन शास्त्रों पर अद्भुत भाष्य लिखने से होती या अपूर्व सम्पूर्ण वेद भाष्य से होती-यदि ऐसा ग्रन्थ बनता तो समाज का भी गौरव बढ़ता!"

शास्त्री जी का पश्चात्ताप करना तो तब ठीक था जब कि दयानन्द में गुरु शंकर जैसी अद्भुत शक्ति होती कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगा तेली" वेचारा दर्शन शास्त्रों पर अद्भुत भाष्य और वेदभाष्य की क्या जाने जिसकी कि जगत् में धाक बैठती! वे हंस और ही होते हैं जो कि मोती चुगते हैं। लेकिन 'यस्मिन् कुले (काएड़ीकुले) त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते" ।

उनका अपना लिखा तो सर्वस्वभूत स० प्र० आपके सामने है उसे चाहे पाँचवां वेद मानो, चाहे आर्यसमाज का पिनलकोड कहो और चाहे ठुकराओ। यह आपकी मर्ज़ी पर मुनहसर है। खुद स्वर्गीय ला० लाजपतराय ने भी लिखा है

कि "हम नहीं कह सकते कि स्वा० जी वेदों के विषय में निर्भ्रान्त थे" ठीक है जभी तो स्वा०जी शूद्रों को वेद पढ़ाने चले।

विचारणीय बात यह है जब कि "उत शूद्रे उतार्ये" इस मन्त्र के भाष्य में स्वयं स्वा० दयानन्द ने शूद्र को आर्य नहीं माना तो आर्यसमाज के तीसरे नियम में "वेद पढ़ना आर्यों का परम धर्म है" कहने से शूद्र को वेदाधिकार कहाँ से मिल जायगा? इस बात का इनके पास क्या उत्तर है?

रही गार्गी आदि स्त्रियाँ? सो पहले तुम गार्गी जैसी स्त्रियां तो पैदा करो? क्या "पतिमेकादशं कृधि" रूपी पाशविकता का पाठ पढ़ा कर गार्गी, सीता, सावित्री का स्वप्न देखते हो? समाज जिसको वेद मानता है क्या उसमें कोई त्रिकाल में भी ऐसा कोई मंत्र बता सकता है जिसमें कि स्त्रियों के लिये वेद पाठका विधान हो?

शास्त्र तो कहते हैं कि—

"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम्॥
२५ भा० १ स्क० ४ अ०।

अर्थात्–स्त्री शूद्र और ब्रह्म बन्धुओं के श्रुति के अधिकारी न होने से कृपालु व्यास मुनि ने उनके लिये वेद तत्त्व को महाभारतादि इतिहास और पुराण ग्रंथों में रख दिया।

भगवान् शंकराचार्य बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ६ ब्रा० ४ कं० १७ के भाष्य में लिखते हैं कि "य इच्छेद् दुहिता मे प-

ण्डिता जायेत १८। अर्थात्–"दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयकमेव न तु वेदविषयकं वेदे ऽनधिकारात्" कन्या के पाण्डित्य से अभिप्राय गृहस्थ सम्बन्धी चातुर्य है न कि त्रैवर्णिक पुरुषों की तरह वेदविषयक, क्योंकि वेद में अनधिकार होने से ।

रही सामर्थ्य और योग्यता की बात, सो यह शास्त्रीय विषय है इसमें लौकिक सामर्थ्य का काम नहीं। वेदान्त दर्शन १ म० अध्याय के तृतीयपाद के ३४ वें सूत्र के भाष्य में स्वा० शंकर लिखते हैं कि–

"सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकार कारणं भवति । शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्,,

अर्थात्-केवल लौकिक सामर्थ्य ही अधिकार का कारण नहीं हुआ करता बल्कि शास्त्रीय विषय में शास्त्रीय सामर्थ्य की ही अपेक्षा हुवा करती है और शास्त्रीय सामर्थ्य का वेदाध्ययन के निराकरण से निराकृति हो चुकी। इस लिये स्त्री शूद्र वेदाधिकारी नहीं ।

स्वा० दयानन्द जी ने यजुर्वेद के २६ वें अ० के २ य मंत्र का हवाला देकर मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने सुनने के अधिकार की भी चर्चा की है और स० प्र० १० म आवृत्ति तृतीय

समुल्लास के पृ० ७४ पर इस मंत्र को उद्धृत कर मन गढ़न्त अर्थ भी कर डाला।

यह पूर्व ही लिख चुके हैं कि इस हजरत का कर्मक्षेत्र अ-सच्छूद्र और स्त्री वर्ग था। और उनसे इतनी अधिक ममता के होने के कारण उनका अपना कापड़ी वंश और महाराष्ट्र महिला रमा का प्रेम था। उस प्रेम को किसी न किसी तरह पूरा करना था, 'बहते को तिनके का सहारा' कहावत के अ-नुसार उन्हें आख़िरकार इस मन्त्र की पूंछ अपने पिनलकोड में दर्ज करनी ही पड़ी अटकल पच्चू से जिस भांति अर्थ का अनर्थ किया यह आपके सामने निम्नलिखित प्रकार से है और बेचारे दयानन्दियों का सारा दारमदार भी इसी पर है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म राजन्याभ्यांꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय

यजु० अ० २६।२।

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अ-र्थात् संसार और मुक्ति के सुख को देने हारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आ वदानि) उपदेश करता हूँ वैसे ही तुम भी किया करो ...... परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण क्षत्रिय (अर्य्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय)

और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है। यह स्वा० जी का कि.या अर्थ है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वा०दयानन्दने वेदों की खबर लेनेमें बौद्ध और जैनों को भी मात कर दिया। हम तो समझते थे कि बुद्ध प्रभृति ही वेदविरोधी थे पर दयानन्द उनसे भी अधिक प्रच्छन्न वेदविरोधी निकला। ऐतिहासिकों की धारणा है कि प्रत्यक्ष शत्रु की अपेक्षा परोक्ष शत्रु भयावह होता है। स्वामी दयानन्द ने स० प्र० में यत्र तत्र वेदमन्त्रोंके एक २ टूक देकर उसे लंगड़ा कर डाला, उदाहरण स्वरूप यही मन्त्र है जिसके द्वारा मनुष्य मात्रको वेदाधिकारी बनाने का स्वामीजी ने धोखा दिया है। यह आधा मन्त्र है, जिसपर भी 'च' कार खा ही गये। सम्भव है सम्पूर्ण मन्त्र इसी लिये न दिया हो कि कहीं कलई न खुल जाय, पर लोग भी इतने चुस्त और चालाक निकले कि आखिर खोलही छोड़ी। कहते हैं कि एक मियां जी जब भूखों मरने लगे तो उन्होंने दिल में यह पक्का इरादा कर लिया कि "घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा कृत्वा गर्दभरोहणम्। येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्" जिस तरहभी हो अपने को पुजवावें इतनेमें कहींसे चन्द एक कुरान के सड़े गले पन्ने उनके हाथ लग गये। तब तो क्या था लगा लोगों को धोखा देने। कई भोलेभाले मुसलमान निमाज छोड़ बैठे। बात यह थी कि किसी पन्नेमें लिखा था "निमाज़ न पढ़ो जब तक नापाक रहो" मियाँ जी ने निमाज पढ़ने के विरुद्ध

जोर शोर से प्रचार करना शुरू कर दिया। जब किसी ने पूछा तो चट से 'निमाज़ न पढ़ो' इतना दिखला कर आगे के पाठ पर अंगूठा रख दिया करते थे। सीधे साधे मुसलमान कुरान का हुक्म समझ कर मियांजी की चालबाजी में आगये एक दिन कोई उस्ताद टक्कर गये उन्होंने कहा अंगूठा उठाकर आगे भी तो पढ़ो। फिर तो क्या था, लोगों ने वह दुर्गत बनाई कि उसकी सारी चालाकी सूद ब्याज सहित चुका डाली।

ठीक यही बात बाबा दयानन्द की भी है भला अधूरा मन्त्र लिखा था तो उसीका सही अर्थ करते। संस्कृत से कोरे चन्द एक नमस्ते बाबू भलेही बाबाकी इस औघड़ लीला के जाल में फंस जाँय तो फंस जांय लेकिन विद्वान् लोग जिस प्रकार एक धूर्त्त साधु ने किसी अबोध राजा को फुसलाने के लिये "शुक्लाम्बरधरं विष्णुं" श्लोक का रुपया और दही बड़ा अर्थ कर दिया था उसी प्रकारकी इस करतूत पर दृष्टि पात भी नहीं करते।

अब जरा हम स्वा० जी महाराजके किये अनर्थकी उन्हींके मन्तव्यों के अनुसार समालोचना करेंगे जिज्ञासु ध्यानपूर्वक पढ़ें।

(१) स्वामी जी यदि ईश्वर को निराकार मानते थे तो उसे उपदेश कैसे दिलाया? और यदि स्वा० जी का ईश्वर उपदेशक है तो वह निराकार कैसे?

(२) "परमेश्वर कहता है" इस अर्थ के बोधक पद मन्त्र में कौन से हैं?

(३) 'आवदानि' का प्रकृत अर्थ बोलना होता है उपदेश करना नहीं, उपदेश करने और बोलने में भेद है ।

(४) यजुर्वेद भाष्यमें इसी मन्त्रका कुछ और ही अर्थ किया और स० प्र० में कुछ और ही दोनों अनर्थों के करने वाले स्वा०जी ही हैं । अब बताओ किसको सही माना जाय और किसको ग़लत ।

(५) स्त्री बोधक पद तो फिर भी मन्त्रमें कोई नहीं तो स्त्रियों का इस मन्त्र से वेदाधिकार कैसे ? और स्वामी जी ने यहां पर निराकार की लुगाई कहां से ढूँढ़ मारी ?

(६) सम्पूर्ण मन्त्र क्यों न लिखा ?

(७) ऋग्वेद और आधा यजुर्वेद के बन जाने पर अधिकारी वर्ग की चिन्ता होना, यह परमेश्वर की भूल कैसे ?

(८) यजुर्वेद भाष्य, ऋ० भा० भू० और स० प्र० इन तीनों पुस्तकों में इस मंत्र के पदार्थ में विरोध क्यों है ।

(९) यजुर्वेद भाष्य में स्वा० जी ने 'अरणाय' का अर्थ उत्तम लक्षणयुक्त अन्त्यज लिखा है और स०प्र० में अति शूद्रादि लेकिन ऋ० भा० भू० में 'चारणाय' का अर्थ अन्त्यज किया है । इनमें कौनसा अर्थ प्रामाणिक है ?

(१०) जब उत्तम लक्षण वाले अन्त्यज के लिये वेद विद्या है (यजु० भाष्य में) तो दुराचारी द्विज या शूद्र के लिये निषेध होने से मनुष्यमात्र के लिये वेदविद्या का पक्ष किधर गया ?

(११) आर्यसमाज के मत में यदि वेदादि विद्या के ज्ञाता का नाम "ब्राह्मण" और पढ़नेसे कुछ न आनेवाले निर्बुद्धिका नाम "शूद्र है" है तो फिर उनको वेदोपदेश देना क्रमशः समुद्र वृष्टि और ऊषर बीजवत् व्यर्थ क्यों नहीं ?

(१२) इस मन्त्र में "ब्राह्मण, तथा 'शूद्र, किसका नाम है ?

(१३) विद्वानों की दक्षिणा के लिये प्यारा होऊँ, मेरी यह कामना उत्तमता से बढ़े, मुझे यह सुख प्राप्त हो ! (यजु० भाष्य देखो इस प्रकार की प्रार्थना स्वामी जी का ईश्वर किससे करता है ?

(१४) और जब वह ईश्वर सब का माता पिता समदर्शी है तो (स्वाय च अरणाय) अपने परायों को वेद का उपदेश करें समदर्शी ने अपना पराया ये भेदबोधक शब्द प्रयोग क्यों किये ? क्या इससे परमात्माका समदर्शित्व कलङ्कित नहीं होता ?

कहां तक लिखें सच तो यह कि बाबा जी की इस ओघड़लीला को देख कर कभी हंसी आती है और कभी ग्लानि ।

जब कि स० प्र० तृतीय समुल्लास ही में स्वा० जी पहिले लिख आये हैं "शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतम ध्यापयेत्" अर्थात् मन्त्रसंहिता छोड़ शूद्र को पढ़ावे, तो अब किस भंग की तरङ्ग में शूद्र को मंत्रभाग (जिसे स्वा० जी वेद मानते हैं) का अधिकारी सिद्ध करने चले हैं ?

सच है यदि किसी (बिरजानन्द जैसे) जन्मान्ध को अपनी

देह का रूप न देख पड़े तो इससे वह नीरूप नहीं हो जाता ।

स० प्र० में ही स्वा० जी स्वयं लिखते हैं कि "जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से 'शूद्र' कहाता है पृ० ७४ " तो ऐसी दशा में उसका पढ़ाना व्यर्थ है ।कारण कि प्रथम माथापच्ची कर निश्चय कर लिया है कि इसे कुछ नहीं आता । अतः यह शूद्र है । आपके ही मतानुसार भी शूद्र को वेद पढ़ाना ऊषर बीज के समान है । फिर इसके वेदाधिकार की चिन्ता करना कहां की बुद्धिमत्ता है ?

इसी प्रकार वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता का नाम आपके मत में (स० प्र० पृ० ८८) 'ब्राह्मण, है तो फिर पढे पढ़ाये ब्राह्मण को वेद का उपदेश देना समुद्र वृष्टि की तरह निरर्थक ही है ।

यह तो हुई शूद्र के वेदाधिकार की बात ! स्त्री की भी सुनिये । प्रथम तो स्त्री बोधक कोई भी पद मूलमन्त्र में आया ही नहीं, निर्दय दयानन्द ने जबर्दस्ती ही स्त्री को घुसेड़ दिया । पं० पूर्णानन्द आर्यसमाजी से स्वा० जी का यह अनर्थ न देखा गया । जभी तो उन्होंने इटावे के छपे अपने यजुर्वेद भाष्य में "स्वाय, के अर्थ में स्त्री शब्द निकाल डाला । बाकी ज्यों का त्यों स्वा० जी कृत भाष्य का अक्षरशः अनुवादमात्र है ।

पं० नरदेव शास्त्री जी ने भी आर्यसमाज के इतिहास के पृ० १२१ पर इस मन्त्र से मनुष्य मात्र का वेदाधिकारी होना नहीं माना, आप लिखते हैं "इस बातको माननेमें हमको

नितान्त संकोच है कि यह मन्त्र मनुष्यमात्र को वेदज्ञानाधिकार देने का विधान करता है वस्तुतः यह मन्त्र राजधर्म प्रकरण का है स० प्र० में उद्धृत भाग मन्त्र का केवल अर्द्धभाग है मन्त्र का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध मिला कर देखने से हमारे कथन की उपयुक्तता सिद्ध होगी" आगे चल कर शास्त्री जी ने सम्पूर्ण मन्त्र लिख पांच कारण दिखा कर मन्त्र का देवता ईश्वर न मान राजा माना है। सारांश यह है कि स्वामी जी कृत अर्थ का आदर नहीं किया।

लेकिन यह स्वा० दयानन्द जी जैसे ही ढीठ व्यक्ति का काम था कि प्रदर्शित त्रुटिपुञ्ज के रहते हुए भी मन्त्र प्रतीक से मनुष्य मात्र का वेदाधिकार सिद्ध करने का दुस्साहस कर बैठा। ऐसे अल्पज्ञ पुरुषों से तो वेद भगवान भी घबड़ाते हैं कि कहीं अपनी अल्पज्ञता के कारण मेरे ही ऊपर न प्रहार कर बैठे! 'बिभेत्यल्पश्रुताद्‌ वेदो मामयं प्रहरेदिति"।

मिथ्यार्थ प्रयोग के लिये तो बड़ा ही वज्रपात होता है। एक समय यज्ञ करते "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इस मन्त्र के उच्चारण में प्रमादवश अन्तोदात्त के स्थान में आद्युदात्त स्वर का उच्चारण होगया था जिसका परिणाम यह हुआ कि शत्रु का संहार न होकर उलटा यज्ञ करने वाले का ही संहार हो गया। जब एक साधारण सी गलती का इतना भयावह परिणाम भोगना पड़ा तो जो लोग वेदको तोड़ मरोड़ इस प्रकार अर्थका अनर्थ–मिथ्यार्थ–करते हैं उनकी क्या दशा होगी और

अन्त में किस नरक चतुर्दशी की पुण्यतिथि को शरीरपात होता है, यह भगवान् ही जाने !

अब हम पाठकों की सहूलियत, दयानन्द की बदनियत और मन्त्रार्थ की असलियत दर्शाने के लिये उचित समझते हैं कि पूरा २ मन्त्र लिख कर प्राचीन आचार्य, ऋषि मुनि और इतिहास पुराण सम्मत अर्थ भी लिखदें, ताकि भ्रम मिटजाय। शास्त्र आज्ञा है कि "इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति" इतिहास और पुराणों के बल से वेदार्थ उद्घाटित करे अन्यथा अनभिज्ञ की जो दशा होती है ऊपर लिख ही चुके हैं।

समग्र मन्त्र इस प्रकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियोदेवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृद्ध्यतामुपमादो नमतु॥

यजु० अ० २६ मं० २॥

स० प्र० तृ० समुल्लास पृ० ७४ पर जो मन्त्र छपा है वह आधा है और उसमें भी (च) चुराया है। और खास धूर्त्तता यह की है कि 'जनेभ्यः' के आगे अर्द्धविराम (।) का चिन्ह देदिया जिससे लोगों को सारे मन्त्र का भ्रम होजाय।

अर्थ—हे जनाः! जनेभ्यः (जनेषु इभ्यो धनी जनेभ्यः)

"इभ्य आढ्योधनी स्वामीत्यमरः" समृद्धो यजमानो राजा वा। यज्ञ के अन्त में यजमान व राजा अपने भृत्यों से कहता है कि (दक्षिणायै) दान देने के लिये (यथा) जैसे (इमां भूतसाधनीं कल्याणीं वाचम्) भूतों को वश करने वाली, कल्याण देने वाली वाणी को (दीयताम्, भुज्यताम्) मैं कहता हूँ, वैसे ही तुम करो। किनके लिये-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शूद्र (अरणा) पराये (स्वाय) अपनों के अर्थ भाव यह है कि सबको प्रिय वचन पूर्वक दान देना ऐसा करने से (देवानाम्) देवताओं का तथा (दातुः) परमेश्वर का मैं (प्रियः) प्यारा (भूयासम्) होऊं, और (इह) इस संसार में (अयं) यह (मे) मेरा (कामः) कार्य धनादिलाभरूप (समृद्धयताम्) समृद्धि को प्राप्त हो और (अदः) परलोक में सुख (उपनमतु) प्राप्त हो।

यह अर्थ पूर्वाचार्यों और वेद वेदाङ्ग, इतिहास पुराण के अनुकूल है। वेद मन्त्रों का अर्थ कोई मौन भोग का निगलना नहीं। यास्क मुनि कहते हैं कि—

"नैतेषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा,,

अर्थात् इन वेद मन्त्रों के सुगूढ़ अर्थों का साक्षात्कार सिवाय ऋषि तपस्वी महात्माओंके कोई नहीं कर सकता।

इस समस्त सन्दर्भ से सज्जनों को स्वामी जी महाराज की कतर ब्योंत और मन्त्रार्थ की असलियत का तो बखूबी पता लग ही गया होगा लेकिन साथ ही यह भी भली भांति

विदित हो ही गया होगा कि मन्त्र के अर्थ द्वारा मनुष्यमात्र को वेद का अधिकार सिद्ध होता है या नहीं ?

स्वा० दयानन्द ने तो "कहीं का पत्थर कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनवा जोड़ा" वाली कहावत चरितार्थ कर दिखाई। कहां का और किस प्रकरण का मन्त्र कहाँ लाकर रख दिया, क्या इसी बल पर स्त्री शूद्र को वेदाधिकार देने चले थे ? अस्तु।

और भी कई एक कुतर्क और खींचातानी के प्रमाण दयानन्द निर्मित सत्यार्थप्रकाश में दिये हुये हैं। जिनका कि मुंह तोड़ जवाब हम पिछले स्त्री शूद्र उपनयन निषेध प्रकरणों में दे भी चुके हैं। क्योंकि उपनयन और वेदारम्भ इन दोनों वैदिक संस्कारों का अधिकार एक दूसरे के सापेक्ष है। इनमें से ये लोग किसी एक को भी सिद्ध कर पावें तो दूसरे का अटकल पच्चू लड़ा लेते हैं। यदि उपनयन सिद्ध हो गया तो कहते हैं कि उपनीत को वेदाधिकार शास्त्रसिद्ध है और यदि वेदाधिकार ही सिद्ध हो जाय तो "सति कुडचे चित्रम्" न्याय से कहते हैं कि उपनयन स्वतः सिद्ध हो गया।

अतः हमें इन दोनों बातों पर लिखने की आवश्यकता पड़ी जहाँ तक बन पड़ा ग्रंथविस्तार भय से हमने प्रधान २ बातों का ही शास्त्र और युक्ति दोनों प्रकार से निर्देश किया है, बाकी बुद्धिमान् जन ऊहापोह से स्वयं समझ सकते हैं। क्यों कि यह पुस्तक पञ्जाब में लिखी जा रही है, आर्यसमाजियों

की ही भान्ति इस देश के वासी सिक्ख लोग भी अधिकतर धर्म कर्म से भ्रष्ट होते चले जा रहे हैं, अतः आवश्यक प्रतीत होता है कि सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गुरुओं के यज्ञोपवीतके विषयमें भी उनको हो वाणी और ग्रन्थों से कुछ लिख दिया जाय ताकि "कालो ह्ययं निरवधिर्विपुलाच पृथ्वी" के सिद्धान्तसे कोई न कोई प्रेमी कभी न कभी लाभ उठावेगाही ।

सिक्ख गुरुओं के जनेऊ ।

हिन्दुओं में एक सिक्ख सम्प्रदाय भी है, जिसका फैलाव अधिकतर पञ्जाब में है। इनके माननीय दशों गुरु खुद यज्ञोपवीत् धारण करते रहे हैं, और अपने शिष्यों को धारण करने का उपदेश देते रहे हैं।

परन्तु जमाने ने ऐसा पलटा खाया है कि उनके शिष्यों ने अब उसे धारण करना छोड़ दिया। बलिक अकाली जत्था तो अपने आपको 'हिन्दू' कहलाने से भी कतराता है। इस लिये हमें आवश्यकता पड़ी जब कि पञ्जाब प्रान्त में यज्ञोपवीत के विषय में यह पुस्तक प्रकाशित होरही है तो हम खालसा भाइयों के आगे उनके गुरुओं का उपदेश (जो उन्होंने यज्ञोपवीत के विषय में दिया और स्वयं जिस पर आचरण भी किया) रक्खें, ताकि यथार्थता (असलियत) का पता लग जावे और यज्ञोपवीत को धारणकर वे अपने गुरुओं के सच्चे शिष्य बन सकें।

गुरु नानकदेव जी का यज्ञोपवीत धारण करना।

नानकदेव जी के पिता का नाम कालू था। ये क्षत्रिय थे। इन्होंने जब नानक जी को उपनयन संस्कार के योग्य देखा तो लिखा है कि-

कालू बहुरो कीन विचारा। यज्ञोपवीत देन हित धारा।
पुरोहित जो तिह को हरदयाला, सो बुलाइ लीनो ततकाला॥

नानक प्रकाश पूर्वार्द्ध अध्याय ६ पृ० ३६॥

पुरोहित हरदयाल जी के आने पर कालू ने नानक जी को बुलाकर ब्राह्मणों के मध्य में बैठाया और पूज्य ब्राह्मणों ने शुभ मुहूर्त्त में यज्ञोपवीत की विधि प्रारम्भ की।

छत्रिन रीत जो हुति पुरातन, सो कीन्ही द्विजवर सब भांतन।
कुल आचार सिखावन लागा, पुन पावन जञूं अनुरागा॥

क्षत्रियों की सनातन रीति ब्राह्मणों ने की और कुल के आचार बता कर जब जनेऊ धारण कराने लगे तो यज्ञोपवीत धारण करने का उद्देश्य क्या होना चाहिये और यज्ञोपवीती को कैसा होना चाहिये इस पर बुद्धिमान् बालक नानकदेव ने कहा-

आदिग्रन्थ-आसाकी वार-श्लोक महल्ला १

दिआ कपाह सन्तोष सूत, जत गंढी सत वट्ट। एह जनेऊ जीव का, हईत पाण्डे घत्त॥ नाँ एह तुटै न मल लगै, ना इहु जलै न जाय। धन्य सु मानस नानका, जो गल चल्ले पाय।

अर्थात्–हे पण्डित जी ! दयारूपी कपासका सन्तोष रूपी सूत बनावे और सत्य की ऐंठ देकर जत (इन्द्रिय निग्रह) की गांठ लगावे जीव का यदि ऐसा यज्ञोपवीत आपके पास है तो पहनाओ। इस प्रकार का यज्ञोपवीत न तो टूट सकता है न मलिन हो सकता है और न जल ही सकता है तथा विनष्ट भी नहीं होता। वह मनुष्य धन्य है जो ऐसा यज्ञोपवीत गले पहने रखता है।

तत्तखालसा लोग अपनी अनभिज्ञता के कारण इस शब्द के असली अभिप्राय को न समझ कर इसे जनेऊ के खण्डन में समझते हैं। और उनके पास शब्द भी यह एक ही है परन्तु यथार्थ में यह शब्द यज्ञोपवीत के मण्डन में है।

गुरु नानकदेव जी का अभिप्राय यह था कि यज्ञोपवीत धारी को दयालु और सन्तोषी होना चाहिये, तथा सत्यवादी और संयमी भी अवश्य बने जैसे कि आगे चलकर राग रामकली महल्ला अष्टपदी १ तुक ५ में स्वयं उन्होंने ही बताया है कि—

"पत बिन पूजा सत बिन संजम जत बिन काहे जनेऊ ॥

यह कहा है। उनका अभिप्राय दुर्गुणों के त्याग से था, जैसे कि भाई वाले वाली बड़ी 'जन्मसाखी' के पृष्ठ २१ पर लिखा है कि नानकदेव जी ने कहा सुनो पण्डित जी ! क्षत्रिय ब्राह्मण होकर जनेऊ गले पाया और बुरे कर्म करने से न टला तो ब्राह्मण क्षत्रिय जनेऊ पाकर बाहर ले धर्मको क्या करेगा।

यदि तत्तखालसा दुराग्रह ही कर बैठें कि हम तो इस शब्द से खण्डन ही समझेंगे और इसी लिये जनेऊ नहीं धारेंगे तो नीचे लिखी बातों का भी तो खण्डन है फिर जनेऊ की तरह उन्हें भी छोड़ दो तो देखना खालसा की रामनाम सत्त होती है या नहीं ?

नानकदेव जी के पिता कालू ने कहा–हे पुत्र ! तू कुछ काम नहीं करता इस प्रकार गुज़ारा नहीं होगा । तू खेती का काम किया कर तो नानकदेव ने कहा–

"मन हाली किरसाणी करनी सर्म पाणी तन खेत ।
नाम बीज संतोख सुहागा रख ग़रीबी वेस ॥

भाऊ कर्म करि जमसी से घर भागत देख, बाबा माया साथ न होय ॥

हे पिता जी ! तन रूपी खेत में मन रूपी हल को लेकर अच्छी करणी रूपी बाही की है । सत्सङ्ग का पानी देकर भगवन्नाम रूपी बीज बोया है ...... वही घर भागवान है जिस में ऐसी खेती की आमदनी है । बाबा ! बाकी तो माया की खेती मिथ्या है । सोरठ महल्ला १ घर १ ।

तब कालू ने दुकानदारी करने के लिये कहा तो तिस पर भी भक्त नानक ने इसी प्रकार का उत्तर दिया–

हाण हट्ट कर आरजा सच्च नाम करवत्थ ।
सुरति सोचि कर भरड साल तिस विच्च तिसनो रख ।
वण जारिआ सिउ वणज करि लै लाहा मन हसि ।

हे पिता जी ! मनुष्य देह को आयु रूपी दुकान में सुरत

की पवित्रता रूपी भण्डसाल (वर्त्तन शाला) बना, प्रत्येक समय ईश्वर स्मरण करना रूपी वस्तु उनमें डाली है और सन्तों की संगत रूपी वणज कर ज्ञान रूपी लाभ किया है। यही मेरी सच्ची दुकान है बाकी झूठी दुकान नहीं करनी।

फिर पिता ने सौदागरी करने को कहा इसका भी भक्त नानक ने इसी प्रकार का सत्योपदेश दिया। बाद नौकरी और वैद्यक का भी इसी प्रकार खण्डन किया हुआ है।

जन्म साखी भाई बाले वाली के पृष्ठ २१ से ३१ तक यज्ञोपवीत खेती दुकानदारी सौदागरी, नौकरी और वैद्यक इन्हें एक ही स्थान में लिखा है। अब विचारणीय बात यह है कि तत्त खालसा यदि अपने गुरु के यज्ञोपवीत के विषय में कहे शब्द से यज्ञोपवीत का खण्डन समझते हैं तो फिर खेती, दुकानदारी वग़ैरह क्यों करते हैं? हां माना कि जो इनमें शूद्र वर्ण हैं वे तो पहले ही अधिकारी नहीं लेकिन यज्ञोपवीत के अधिकारी भी इनमें धड़ाधड़ शूद्र बनते चले जा रहे हैं।

यह उत्तर दुर्जनतोषन्याय से दिया गया है, प्रकृत में उक्त शब्द में नानकदेव जी का अभिप्राय यज्ञोपवीत के खण्डन से नहीं, बल्कि यज्ञोपवीत के उद्देश्यों और यज्ञोपवीती के कर्त्तव्यों से हैं। क्योंकि जब नानक जी और पुरोहित जी के बीच इस प्रकार उपदेशपूर्ण बातें हो चुकीं तो पण्डित जी ने प्रसन्न होकर उनके गले में जनेऊ पहना दिया यह बात नानकप्रकाश अ० ६ पृष्ठ ४२ अङ्क ४३ में लिखा है कि–

"अस विध श्रीनानक गति दानी। उपदेशन की उचरत बानी।
बदन वदत विप्रन बरि आई। यज्ञोपवीत दियौ पहिराई॥

और वह यज्ञोपवीत नानकदेव जी ने आयुः पर्य्यन्त पहना रक्खा। नानकप्रकाश अ० २२ पृ० १०७ अङ्क ४४ में लिखा है कि विवाह के समय पीत वस्त्र और यज्ञोपवीत नानक देव जी को बहुत शोभा दे रहा था!

"गर चीर है पीत पुनीत मनो गहि यज्ञोपवीत महा छवि छाई

इसी प्रकार इसी पुस्तक के अ० ३८ अङ्क २४ में लिखा है कि एक समय नानक जी इमनाबाद अपने सिक्ख भाई लालो (त्रखाण) के यहां गये। भोजन तैयार होने पर लालो ने कहा गुरू जी भोजन तैयार है। गुरु जी ने कहा यहां ले आवो। लालो ने कहा गुरु जी आपके गले यज्ञोपवीत है चौके पर चल कर भोजन छको। "कहि लालो तुमरो गल जञ्जु वहिर अशन क्या पाई" और भी बहुतसे प्रबल प्रमाण हैं लेकिन अनावश्यक समझ कर तथा ग्रन्थविस्तार भय से छोड़ कर और गुरुओं के यज्ञोपवीत के विषय में भी कुछ उदाहरण देखिये।

छठे सिक्ख गुरु हरिगोविन्द जी का यज्ञोपवीत धारण करना।

गुरु विलास पातशाही ६ अ० ५ अङ्क १० में लिखा है-

"गुरु निदेश सुन विप्र तब शुभ जञ्जु कर धार।
कर पूजा गुरु पुत्र गर लागो प्रोहित डार॥

हरि गोविन्द कह्यो हम गरे जञ्ञु हरि अस पाई!
कुल प्रोहित कुल रीति कहि पाई आगर हर्षाई ॥

कहिये ! आपके गुरु तो यज्ञोपवीत को सहर्ष धारण करते थे लेकिन तुम्हें क्या हो गया?

९ वें सिक्ख गुरु तेगबहादुर जी का जनेऊ ॥

दशम ग्रन्थ साहिब विचित्र नाटक अ० ५ में १० म० गुरु लिखते हैं-

"तिलक जञ्ञु राखा प्रभु तांका। कीनो बड़ो कलू महि साका

दशम सिक्ख गुरु गोविन्दसिंह जी का यज्ञोपवीत धारण।

पन्थ प्रकाश सं० १९४६ में छपे के पृ० ५१० एडीशन १ पूर्वार्द्ध में लिखा है कि- दशम गुरुजी के विवाह के समय, जो नवम गुरु की उपस्थिति में हुआ था-पीत वस्त्र और पीत यज्ञोपवीत धारण किया हुवा शरीर की समधिक शोभा बढ़ा रहा था—"पीत पुनीत उपरना धोती जोती रवि नव छाजै।
पीत जनेऊ मनो बदन ससि पै विजरी बिज्जुरी भ्राजै॥

गुरु लोग जहां स्वयं यज्ञोपवीत पहनते थे वहां अपने सिक्खों को भी यज्ञोपवीत धारण करने के लिये उपदेश देते रहे हैं। भाई मनींसिंह जी शहीद "भक्तरत्नावली" की साखी १४५ में लिखते हैं कि वासीआं वाले सिक्खों ने गुरु दशम जी के पास आकर अर्ज की कि-

"सच्चे पातशाह असीं जनेऊ पावण के समय पुत्र का भद्दन (मुण्डन) करते थे । अब सच्चे पातशाह जैसे हुक्म होवे तैसे करें । हुक्म और दस्तख़त हुये । सहजधारी के बेटे की कैंची से रीत करो, केश धारी को केशी स्नान कराओ जनेऊ पावण के समय ॥

अब बताओ ! केशधारी व सहजधारी सिक्खो तुम क्या अपने गुरु के सिक्ख हो ? यदि हो तो यज्ञोपवीत क्यों नहीं धारण करते ? और यदि जनेऊ नहीं है तो तुम सिक्ख कैसे ? और किसके ?

हमने सिक्ख गुरुओं के स्वयं यज्ञोपवीत धारण करने के बिषय में तथा उनके अपने सिक्खों को भी यज्ञोपवीत धारण कराने के लिये गुरुओं का हुक्म भी स्थालीपुलाक न्याय से उन्हीं की माननीय पुस्तकों से लिख दिया है। आशा है इसे पढ़कर खालसा लोग मनमता को छोड़ गुरुमता पर चलेंगे ! ताकि लोग परलोक न विगड़े ।

इस प्रकार इस पूर्व किरण में पाश्चात्यशिक्षा का भयावह परिणाम, कन्योपनयन निषेध, शूद्रोपनयन निषेध, स्त्री शूद्र वेदानधिकार और सिक्ख गुरुओं के यज्ञोपवीत के विषय में संक्षिप्त रूप से विवेचन किया है, अब आगे उत्तर किरण में यज्ञोपवीत की निर्माणविधि व उसके विज्ञान आदि यज्ञोपवीत सम्बन्धी सब बातों की बिस्तार पूर्वक विवेचना की जायगी ॥



* श्री *

यज्ञोपवीत मीमांसा।

उत्तरकिरण-प्रारम्भः—

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्।
देवतानां पितॄणाञ्च भागो येन प्रदीयते॥
मृच्छकटिके अङ्क १० श्लो० १८ चारुदत्तः।

यज्ञोपवीत—देखने में, यों तो छोटा सा नौ तार का डोरा है, लेकिन द्विजाति के लिये मोती और सुवर्ण के भूषणों से भी बढ़कर और विलक्षण आभूषण है; जिसके द्वारा कि देवता और पितरों तक का कर (ऋण) चुकाया जाता है।

भगवान् मनु कहते हैं कि "मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने" २। १६९। ब्राह्मणादि वर्णों का प्रथम जन्म सर्व साधारण की भान्ति माता के उदर से होता है, लेकिन दूसरा जन्म सर्व साधारण से विलक्षण और प्रशस्त उपनयनसंस्कार द्वारा होता है क्योंकि

"न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्।
२। १७१।

जब तक यज्ञोपवीत संस्कार न होले तब तक सन्ध्योपा-

स्नानादि कुछ भी तो कर्तव्य कर्म नहीं कर सकता। यज्ञोपवीत संस्कार हो लेने पर-

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणञ्चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्॥

उपनीत बटु को व्रत का और वेद का भी अधिकार प्राप्त है। इसी लिये उपनयन संस्कार को "व्रतबन्ध" भी कहते हैं जबतक व्रतबन्ध न हो तो वेद नहीं पढ़ सकता, और वेदाधिकार प्राप्त किये विना शूद्र कोटि में शामिल होता है।

"नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेणहि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते॥

उपनयन-संस्कार ब्राह्मणादि वर्णका द्विजत्व सम्पादक है अर्थात् दूसरा जन्म है, यह मानव धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है, लेकिन जन्म माता पिता के विना हो नहीं सकता, अतएव उपनयन संस्कार में माता पिता की कल्पना दिखाते हैं कि—

तत्रयद् ब्रह्मजन्माऽस्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते।

(ब्रह्मणि जन्म ब्रह्म जन्म-नाम वेद में जन्म होना) उस समय बालक की माता सावित्री = गायत्री-है और पितृ स्थानापन्न आचार्य हैं(१)ब्रह्मचर्याश्रम में षाट्कौशिक शरीर के जन्म-

---

नोट १—शंख स्मृति १ अ० ६—८ श्लो० में यह बात और स्पष्ट की गई है।

दाता माता पिता छूट जाते हैं लेकिन उनके स्थानमें वेदमाता गायत्री ही माता है, और "वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते" मनु० २ । १७१ । वेद-ज्ञान रूपी अक्षुण्ण शरीर के जन्मदाता आचार्य ही पिता हैं । विनश्वर स्थूल शरीर के जन्मदाता पिता की अपेक्षा आचार्य रूपी पिता अविनाशी ज्ञानरूपी शरीर देने के कारण "गरीयान् ब्रह्मदः पिता" श्रेष्ठ माना गया है।

शास्त्रों में यज्ञोपवीत-संस्कार को बड़ा भारी महत्व दिया गया है। क्योंकि द्विजाति का समस्त वैदिक कर्म कलाप संध्योपासनादि नित्य नैमित्तिक एवं काम्य कर्म, देवर्षि पितृ

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य-स्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
तेषां जन्म द्वितीयं तु विज्ञेयं मौञ्जिबन्धनम् ॥ ६ ॥
आचार्यस्तु पिता प्रोक्तः सावित्री जननी तथा ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां मौञ्जीबन्धनजन्मनि ॥ ७ ॥
वृत्त्या शूद्रसमास्तावद् विज्ञेयास्ते विचक्षणैः ।
यावद् वेदे न जायन्ते द्विजा ज्ञेयास्ततः परम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों को द्विजाति कहते हैं, इनका दूसरा जन्म यज्ञोपवीत से जानना । ६ । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों वर्णों के यज्ञोपवीत के जन्म में आचार्य पिता और माता गायत्री कही है । ७ । जब तक इनको वेद शास्त्र का अधिकार न हो तब तक पण्डित इनको शूद्र के समान जाने और वेदपाठ प्रारम्भ अर्थात् यज्ञोपवीत होजाने पर 'द्विज' जानना उचित है ।

कर्म सब इसी नौ तार के डोरे के ऊपर निर्भर हैं। यहां तक कि इसके बिना तो द्विजाति का खान-पान,श्वास-प्रश्वास, और मल मूत्र त्याग करना भी धर्म नहीं, जिससे क्षण भर भी जीना कठिन हो जाता है।

लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि धर्म के एक ऐसे अत्यावश्यक अङ्ग और अत्युपयोगी वस्तु का आज किस प्रकार दुरुपयोग किया जा रहा है। लोग इतने प्रमादी और आलसी हो गये हैं कि उनसे अपने लिये शुद्ध स्वदेशी सूत का यज्ञोपवीत भी नहीं बनाया जाता। बाजार में बिकते हुए जनेऊ ख़रीद कर गले में डाल लेते हैं जो महा अशुद्ध होते हैं। न तो वे मन्त्रों की विधि से बनते हैं और नाहीं उनमें सूत ही विधि से कता हुवा होता है। जो पुरुष अपने हाथों बनाते भी हैं तो वे प्रायः विधि नहीं जानते।

हमने देखा है कि बड़े २ पण्डित नामधारी भी विधिहीन बना हुवा ही धारण कर लेते हैं।

लिखते हुये लज्जा और संकोच के मारे शिर नीचा हुवा जाता है कि पिछले योरोपीय महा समर के दिनों में समाचार पत्रों में एक सूचना पढ़ने में आई थी कि जर्मन से बम्बई को एक ज़हाज़ रवाना हुवा है जिसमें भारतवासी हिन्दुओं के लिये कई गट्ठर यज्ञोपवीतों के बण्डल हैं भला ! "सुई छड़ी तक निकृष्ट दियासलाई" तो हुई सो हुई लेकिन अब भारत

वासी भूदेव ब्राह्मणों के धार्मिक चिन्ह भी विदेश से ही आवेंगे? तो तभी काम चलेगा? भगवान्! न जाने अभी भारत के भविष्य भाल में क्या २ लिखा है? इस से बढ़कर गिरावट और क्या हो सकती है? हिन्दू जाति के अधःपात की पराकाष्ठा हो चुकी! हमें इस समय स्वर्गीय लो० तिलक की ओजस्विनी स्फूर्त्तिकारिणी कविता याद आती है कि—

जो थे प्रशंस्य पहले तुम कीर्त्तिमान,
विज्ञान और बल विक्रम के निधान।
सम्पत्ति शक्ति निज खोकर आज सारी,
हा! हा! हुए तुम वही सहसा भिखारी॥ अस्तु–

प्राचीन समय में और अब भी पूर्व और दक्षिण भारत में यह प्रथा प्रचलित है कि ब्राह्मण लोग श्रावणी के दिन ऋषि-पूजन के साथ ही यज्ञोपवीत पूजन, अभिमन्त्रण और धारण भी कर लिया करते हैं और फिर वर्ष भर उन्हीं शुद्ध स्वदेशी सूत के विधि पूर्वक काते व बने हुये, पूजा प्रतिष्ठा किये हुये यज्ञोपवीत को पहिनते हैं। आजकल और खासकर पश्चिमोत्तर भारत में पहिले तो लोग यथासमय और उचित रीति से पहनते ही नहीं और यदि पहनते भी हैं तो ऐसी भेड़िया धसान से काम लेते हैं कि कहते नहीं बनता। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि पञ्जाब और सीमाप्रान्त के बहुत से हिस्सों में यह बात देखने में आई है। उदाहरण के रूप में आप "सखिसरवर" को ही ले लीजिये। यह स्थान डेरागाजीखां

जिले से कुछ दूरी पर बिलोचिस्तान की पहाड़ियों की तराई में है। कुछ बर्ष पहिले हमें डेरागाजीखां नगर में जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। रास्ते में एक बड़ी भारी यात्रा का दर्शन हुआ जिसमें सभी भाँतिके लोग शामिल थे। पूछने पर पता लगा कि ये यात्री सखिसरवर के यात्री हैं। सखिसरवर नाम सुनने से ही मेरा हृदय भगवत्प्रेम से प्रफुल्लित हो गया साथ ही अपनी साहित्यरसिकता के कारण इस नाम को मैं बार २ बोलता जाता था। अहा! कैसा प्रसादगुणसमन्वित, सुगम, सरस, एवं सरल नाम है। कैसा अच्छा अनुप्रास है। कैसे मधुर एवं ललित और कोमल वर्ण हैं। सच कहूँ मैंने अपने संस्कृत साहित्य के पाण्डित्य के आधार पर उसका अर्थ भी गढ़ डाला और अनुमान का घोड़ा दौड़ाने लगा कि सम्भव है 'द्वारिका के गोपी तालाव की' जिसमें कि गोपियां कृष्णवियोग में समा गईं थीं उसी की अनुकृति हो! चलकर गोपीचन्दन की भांति इसकी भी मृत्तिका मस्तक पर धारण करें।

सखि से गोपी और सरवर शब्दको संस्कृतके सरोवर शब्द का अपभ्रंश समझा जिसका कि अर्थ तालाव होता है। लेकिन साथ ही हृदय में सन्मुख सिन्धु नद की उत्ताल तरङ्गों की भांति रह रहकर विचारधारायें पैदा होती थीं कि इस सीमाप्रान्त में श्रीकृष्ण और गोपी कहां? मोटर नगर में पहुँची पूछने पर पता लगा कि यह तो मामला कुछ और ही है।

सरवर नाम के किसी मुसलमान फकीर के नाम पर यह स्थान है, फार्सी में सखि फकीर को कहते हैं। वहां पर प्रतिवर्ष हिन्दू यात्री भी जाते हैं। उस स्थानके नाम पर कई मानतायें भी मनाते हैं। स्थान मुसलमानों के अधिकार में है।

एक छोटा सा कुण्ड है जिसमें यात्रा के दिनों में मुसलमान मांस की मश्कों से पानी भर देते हैं। फिर हिन्दू मुसलमान सभी उसको वर्त्तते हैं। पास में कुछ कबरें भी हैं। हिन्दू नर नारी उनका पूजन-प्रदक्षिणा कर अपने जीवन का लाभ उठाते हैं। उसी तालाब में स्वयं और अपनी सन्तति को भी स्नान कराकर वहीं पर उनका चूड़ाकर्म और उपनयन संस्कार होता है। बलोचों और मुसलमानों के उस उच्छिष्ट और शौचावशिष्ट एवं मुसलमान मशकों के गोचर्म की मशक के पानी से भरे उस कुण्ड को हतभाग्य हिन्दू पास में बहते हुये परमपावन सिन्धु नदसे भी कई गुणा पवित्र ही तो समझते होंगे ज़भी तो उन्होंने अपनी सन्तति के उपनयन संस्कार के लिये वह स्थान उपयुक्त समझा।

हिन्दुओं के अपने घर में ३३ करोड़ देवताओं के होते हुये दिल नहीं भरता। जिससे कि म्लेच्छों की कबरों को पूजते फिरते हैं। क्या इसी प्रकार के उपनयन संस्कार से बालक ब्रह्मवर्चस्वी बनेंगे?

इसी प्रकार डेरा इस्माइलखान में बिलोट के पास सिन्धु दरिया के किनारे पर गुसांई केवलराम का थड़ा है यद्यपि

स्थान सिन्धुके तट पर होने से पवित्र है परन्तु यज्ञोपवीतकी यहां भी वही दुर्दशा देखी। पुजारी देव-भक्तजनों से सोलह कला सम्पूर्ण रु० भगवान् को पैंठ कर जनेऊ दूर ही से गले में पटक देते हैं। बस इतने ही में सब कुछ आगया। गायत्री मन्त्रको जाने उनकी बला! लोग भी कृतार्थ होजाते हैं। प्रति वर्ष वैशाखी के मौके पर हजारों हिन्दू नर नारी यहां पर भी आते हैं और इसी प्रकार उपनयन संस्कारकी विडम्बना होती रहती है। ऐसा ही खिलवाड़ दयालपुर में भी मचा हुआ है यह स्थान चूनिया जि० लाहौर से २५ मील की दूरी पर है। पंजाब के दूर २ जिलों के खन्ने जाति के खत्री (क्षत्रिय) यहां बाबा की जगह पर पहुँचते हैं और उनका उपनयन संस्कार भी यहीं होता है।

ट्रेन में यात्रा करते एक समय हमें खन्ना जाति का एक खत्री सज्जन मिल गया जिसकी आयु प्रायः २६-२७ वर्ष की रही होगी। गले में जनेऊ न देख कर जब उससे कारण पूछा तो उसने वही उत्तर दिया कि पं० जी! यदि कभी बाबा की जगह में जावेंगे तो पावेंगे। मैंने पूछा यदि कारण वश न जा सके तो? कहने लगा कि हमारी रीति नहीं कि हम इस तरह जनेऊ पहन लें चाहे सारी उमर क्यों न वीत जाय। कई बेचारे इस तरह बैरङ्ग ही विदा भी हो जाते हैं।

हम भी गुरु गृह को सन्मान की दृष्टि से देखते हैं लेकिन दुःख तो इस बात का है कि लोगों ने कई एक पुरानी रूढ़ियां

को ही सनातन धर्म समझ रक्खा है। गुरु स्थानों में ही यदि यज्ञोपवीत जैसे संस्कार की यह दशा होगी तो आदर्श कहां ढूंढेंगे? अस्तु ऐसी ही बातें और प्रान्तों में भी पाई जाती होंगी। उदाहरणं में हमने केवल एक दो बातें पञ्जाब प्रान्त की ही लिख दीं।

कई सज्जन कहते हैं कि हमारे यहां झण्ड (मुण्डन सं-स्कार) के समय जनेऊ डालते हैं कोई सगाई का समय बत-लाता है। कई विवाह के समय पहन लेते हैं लेकिन बाद उतार देते हैं। हमारे बंगाली बाबू तो धोबी को धोने भी देदेते हैं। इधर कभी नई रोशनी के रुस्तम चतुश्चक्षु बाबुओंके गले टटो-लें तो यज्ञोपवीत, नदारद, दर्याफ़्त करो तो नौन्सेन्स कहकर नाक भौं सिकोड़ने लग जाते हैं। या संकोचवश कहना ही पड़ जाय तो फर्माते हैं कि अभी ज़र्मन से नहीं आये या ह-मारे यहां विवाहमें पहना जाताहै। अच्छा यदि विवाह भी हो गया होतो पूछिये कि आपका जनेऊ कहां है? तो चटसे मुंह बना कर कहेंगे कि हस्रा हुआ काका जी (छोटे बच्चे) ने तोड़ दिया। या ओ हो! कमीज के साथ धोबीके यहां चला गया। तात्पर्य कोई न कोई बहाना बना कर अपने इस परम पवित्र धार्मिक चिन्ह की अवहेलना किया करते हैं।

स्कूल के लड़के तो इम्तिहान के वक्त इससे पर्चें ही नत्थी कर डालते हैं बहुतों ने इसे रक्षाबन्धन, तावीज, अनन्त या टोने के धागे के समान किसी कालविशेष अथवा कार्य्यकर्म

विशेष के लिये यंत्र तंत्र मान रक्खा है। बहुत से कुठारी भंडारी जैसे भाई तो चाबियों के गुच्छे को बांधने का साधन ही बना बैठे हैं। कहा तक लिखें जितनी मुंह उतनी बातें।

ऐसे ही ख़्यालात के लोगों में से एक शर्विलक नाम वाले चोर की भी मृच्छकटिक नाटक में कथा आती है जब कि उसने अन्धेरी रात में चारुदत्त के घर में सेंध लगाई और नापने के लिये फीता (मानसूत्र) टटोलने लगा तो मालूम हुआ कि घर ही छूट गया तो चट से जनेऊ हाथ में लेकर कहता है—

"यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुःपकरणद्रव्यं, विशेषतोऽस्मद्विधस्य (चौरस्य) कुतः-

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्,
एतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्।
उद्घाटनं भवति यन्त्रदृढे कपाटे,
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च॥

३ अं० १६ श्लो०

अर्थात् जनेऊ ब्राह्मण की बड़े काम की चीज है और ख़ास कर मेरे जैसे चोर के लिये, क्योंकि इससे नाप कर दीवार में सेंध लगा सकते हैं। सोती हुई स्त्रियों और बच्चों के कसे हुए आभूषण इसकी सहायता से ढीले करके निकाल सकते हैं। बन्द तालों को खोलने में तो यह खूब ही काम देता है और यदि कहीं कोई कीड़ा, साँप बिच्छू आदि काट

खाय तो इसे लपेट कर दुस्सह पीड़ा भी सहन कर सकते हैं आज कल तो लोगों ने और भी तरक्की करली है । यदि अपराध के सन्देह में पकड़े गये तो 'जनेऊ कसम' से बचत हो सकती है । कचहरियों में हाकिमों को जनेऊ दिखा कर अपनी बात की सत्यता सिद्ध की जाती है ।

जातीयता या राष्ट्रीयता के नवीन पक्षपातियों को यह भी कहते सुना है कि शिखा सूत्र भारत का जातीय चिह्न है किसी समय मुसलमानों के यहां आने से पहले यह राष्ट्रीय चिह्न था । कुछ लोगों का यह भी कहना है कि शिखा केवल जातीय चिह्न है और सूत्र (यज्ञोपवीत) द्विजत्व का चिह्न एवं महत्व का ख्यापक है । सम्भव है, इन बातों में कुछ तत्व हो, और जिस तरह आज प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय झण्डे को ऊंचा किया करता है इसी तरह किसी समय प्रत्येक हिन्दू भारत के राष्ट्रीय झण्डे (चोटी) को अपने शिर पर हर समय ऊंचा किये रहता हो । परन्तु विचार करने पर ये बातें कुछ जमती नहीं । मुण्डन के पहले किसी बच्चे की न चोटी होती है न जनेऊ, क्या इन शिखासूत्रविहीनों की गणना हिन्दू जाति में न होगी ? फिर संन्यासियोंको तो देखिये, जो शिखा की जड़ तक खुदवा डालते और सूत्र का नाम निशान तक मिटा देते हैं । क्या ये हिन्दू नहीं है ? या भारतीय नहीं है ? अथवा इनका द्विजत्व या महत्व नष्ट होजाता है ? शास्त्रानुसार तो प्रत्येक वर्णाश्रमी का कर्तव्य है कि वह

संन्यासी को देखते ही झुक जाय। यह महत्व घटने की बात है या बढ़ने की? जो लोग शूद्रों को यह कह कर भड़काया करते हैं कि ब्राह्मणों ने जनेऊ न देकर तुम्हें अपमानित किया है उन्हें सोचना चाहिये कि जनेऊ फेंक देने के बाद भी संन्यासी लोग अपमानित क्यों नहीं हुए? यह तीन वर्ण और तीन ही आश्रमों में हैं, न शूद्रों में, न संन्यासियों में। अब इसे कोरा जातीय चिह्न मानें या कोई धार्मिक तत्व? अस्तु,

ऐसे भी हजरत इसी दुनियाँ में हैं जो कि यज्ञोपवीत शिखा को केवल विद्या का चिन्ह मान बैठे हैं; जिसके मानने में वे खुद ही प्रमाण हैं। क्या जो ब्राह्मणादि वर्ण कारणवश विद्या न पढ़ सकें तो चोटी जनेऊ उतार दें? शायद जभी तो स्वा० दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में हिन्दुओं को शिखा-छेदन को आज्ञा दी है? यदि चोटी जनेऊ ही विद्या के चिह्न या यों कहिये कि सर्टिफ़िकेट हैं तो स्वा० दयानन्द खुद ही विद्वान् नहीं सिद्ध होते, क्योंकि उनके ये दोनों विद्या के चिह्न नहीं थे और लकड़ी ढोने वाला एक मूर्ख ब्राह्मण व क्षत्रिय जिसके कि चोटी जनेऊ हों विद्वान् सिद्ध होते हैं। वास्तव में यज्ञोपवीत संस्कार ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक पुरुषों का द्विजत्व सम्पादक है. केवल विद्या का चिह्न नहीं, देखा जाता है पचासों उपनीत ब्राह्मणादि वर्ण भी निरे पानी पाण्डेय हैं और अनुपनीत शूद्रादि भी विद्वान् हैं पर द्विज नहीं। स्पष्ट है कि उपनयन से ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक पुरुष द्विज बनता है

विद्वान् नहीं। केवल विद्याचिह्न मानना निरी मूर्खता है।

पिछले दिनों "हिन्दू संसार" में एक लेख छपा था कि श्रीयुत गान्धी जी ने अपनी आत्मकथामें है लिखा है कि जब वे गुरुकुल काङ्गड़ी का निरीक्षण करने गये थे तब आर्य संस्कृति के द्योतक नाम से चलने वाली इस संस्था के उपाध्याय और आचार्यों ने उनके यज्ञोपवीत न पहने रहने और शिखा न रखने पर एतराज किया। गान्धी जी ने लिखा हैं कि जब मैंने आक्षेप करने वालों से पूछा कि इन दोनों के रखने से लाभ क्या है। तब उन्होंने केवल यही उत्तर दिया कि ये दोनों हिन्दुत्व के चिह्न हैं। कहा जाता है कि गान्धी जी ने यह सुन कर कहा कि अगर ऐसा है तो मुझे तो सारा भारतवर्ष इन चिह्नों के बिना ही हिन्दू जानता है।

यज्ञोपवीत के विज्ञान को ऋषिसन्तान इस प्रकार भूल जायगी और यह बता कर कि विद्याचिन्ह के रूप में अथवा हिन्दुत्व के चिन्ह या निशान के रूप में इसका भार हमारे ऊपर ऋषियों ने लाद दिया है, ऋषियों की बुद्धि का मज़ाक और ऋषियों का अपमान ऋषिसन्तान ही एक दिन करावेगी ऐसा ऋषियों ने कभी स्वप्न में भी न सोचा होगा। पर हृदय दहलाने वाले ऐसे अज्ञान का सप्रमाण चित्र हमारे सामने है, और वह भी किनके सम्बन्ध में, आचार्य और उपाध्यायों के सम्बन्ध में। बलिहारी है ऐसी आर्यसंस्कृति के आचार्य और उपाध्यायों की।

सो इस प्रकार लोग यज्ञोपवीत को अपना द्विजत्व सम्पादक आवश्यक धार्मिक चिन्ह न समझ कर कुछ का कुछ समझ बैठे हैं जिसका परिणाम यह होरहा है कि द्विजविलास प्रिय हो इसके महत्त्व को न समझ कर अपने शरीर से धड़ाधड़ इसे जुदा करते चले जारहे हैं। समय था जब कि मुसलमानी तेज तलवारकी धार भी इसके जुदा करने में कुण्ठित होगई थी। धड़ से शिर भले ही जुदा होगया हो शरीर पञ्जर से प्राण पंछी भले ही पखेरू हो गये हों पर भारत गगन में "शिर जावे तां जावे, पर मेरा हिन्दू धर्म ना जावे" की ध्वनि गूंजती ही रही। आज भी दिल्ली के चाँदनी चौक की दीवारों से टक्कर खाकर हवा इसी शब्द को गुञ्जारती है कि "तिलक जञ्जू राखा प्रभु तांका" पर शोक है, उन शौकीनों पर जो कोट, बूट, हैट और नाकटाई आदि म्लेच्छोंके बाने को तथा बड़े २ तग़मों को तो भले ही बड़ो चाव से पहन लें पर डेढ़ तोले का जनेऊ जिन्हें भारभूत प्रतीत होता है।

कई पाश्चात्य शिक्षा से विकृत मस्तिष्कों को तो यह भी कहते सुना गया है कि अजी! हमतो डारविन साहब की थ्यूरी और चार्वाक के जड़वाद को मानते हैं। जिस कोट बूट, हैट, चमड़े की पेटी, नकटाई कालर और तग़मों पर आप कटाक्ष करते हैं और ठीक है कि यह म्लेच्छों का बाना है, लेकिन इनसे तो ज़मानेमें हमारी पोज़ीशन बनती है और प्रत्यक्ष फल भी है। सो हमें यज्ञोपवीत का इस प्रकारका कोई प्रत्यक्ष फल दिखावे, पारलौकिक मीमांसा जाने दें।

कहते हैं कि विलायत में एक समय किसी भारतीय सज्जन के गले में स्नान करते समय उनके अंग्रेज दोस्तों ने जनेऊ देखकर पूछा--इसकी फ़िलासफ़ी क्या है? तो बुद्धिमान् सज्जनने कहा कि भाई! मैं हिन्दू शास्त्रोंका तो इतना विद्वान् नहीं कि जो इसकी फिलासफ़ी तुमको समझा सकूं लेकिन जाने दो और फ़िलासफ़ी को, मेरी तुच्छ बुद्धि में जो कुछ आया है सो सबसे बड़ी फ़िलासफ़ी तो इस समय यह है कि परमात्मा न करे कि इस जगह मेरी मृत्यु होजाय तो मेरे पड़े हुये शव के गले में जनेऊ देखकर तुम मुझे ईसाइयों की कबरों में तो न सड़ाओगे। बल्कि मेरा कोई हिन्दू भाई मुझे द्विजाति हिन्दू समझ कर मेरा वैदिक विधि से दाह संस्कार कर देगा, यह कम फ़िलासफ़ी है कि अन्त में दुर्गति तो न होने पायगी। इसी प्रकार एक अपटूडेट जेण्टलमैन हमसे भी प्रश्न कर बैठा कि पण्डित जी! जनेऊ की फ़िलासफ़ी क्या है? आज कल के जैण्टिलमैनों को सज्जन जानते ही हैं कि अंग्रेजी की एक दो किताब हाथ में आई नहीं कि शिखा यज्ञोपवीत का सफाया पहले ही होजाता है। मैंने कहा तुम कौन होते हो? कहने लगा हिन्दू! इस पर मैंने कहा भलेमानस! वेष तेरा ईसाइयों का, भाषा भी तेरी आधी मुसलमानी तो आधी क्रिश्चियनी। शिर में चोटी नहीं, मस्तक पर चन्दन और गले में जनेऊ तक नहीं हिन्दुओं का भी तो निशान नहीं तू साबित कर कि मैं हिन्दू हूँ। तब तो लगा बेचारा बगलें

झांकने। हुलिया तङ्ग होगया फिर हमने कहा तू तो काला होने से अंग्रेज भी नहीं, शायद सुन्नत न होने से मुसलमान भी नहीं और चोटी जनेऊ न होने से हिन्दू तो पहले ही नहीं, तू चिमगादर की तरह उभय भ्रष्ट, न पशुओं में न पक्षियों में बता है कौन ?

ऐसे प्रत्यक्षप्रिय नास्तिक से कोई कहे कि जो आनन्द तुम्हें स्त्री में प्रतीत होता है क्या वह भगिनी में नहीं।

प्रत्यक्ष में तुम लूले लङ्गड़े या बहिरे तो हो नहीं जावोगे ? और न ऐसे पापी पुरुष प्रत्यक्षमें अङ्गहीन या गोरे से काले ही होते देखे गये। यदि लोकनिन्दा कहो तो इसमें लोक नि-न्दा नहीं कि तुम स्वदेशी आर्य पुरुषों के बाने को छोड़ कर मुफ़्त में नक्काल बनते जा रहे हो। अन्त में हम तो स्वर्गीय लो० तिलक के ही शब्दों में कहेंगे कि—

लाओ न गे बचन जो मन में हमारा,
तो सर्वनाश अब दूर नहीं तुम्हारा॥

हा ! आर्य सन्तान इस पापी पेट के पीछे भले ही तुझे २४ घण्टे सरकारी चमड़े की चपडास कन्धे पर लटकानी पड़े ! और वह भी बड़े गर्वके साथ ! लेकिन डेढ़ तोले का मन्त्र पूत वैदिकधर्म की चपड़ास-यज्ञोपवीत तेरे लिये बोझीला है।

अक्सर आपने देखा ही होगा सरकारी कर्मचारियों में से अधिकारिवर्ग यज्ञोपवीत की भान्ति विशेष अधिकार सूचक चमड़े की चपड़ास (Shoulder strap) को कन्धे पर

से पहने रखते हैं उदाहरण रूपसे आप-थानेदार, रेलवे टी०टी और फौज के ऊंचे दर्जे के अफसरों को ही देख लीजिये। सर्व साधारण इस प्रकार के चिह्न को नहीं धारण कर सकते। इस चिह्न से उनकी योग्यता विशेष और अधिकारविशेष सूचित होता है।

हमें भी इस बात का गर्व होना चाहिये कि ईश्वर ने हमें द्विजकुल में जन्म देकर योग्यता विशेष और वेदपाठादि अधिकार विशेष की सूचक यह जन्म सिद्ध यज्ञोपवीत रूपी चपड़ास पहनाई है। अब हमारा कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि हम उस चपड़ास की लाज रक्खें, ताकि इस ओहदे से ख़ारिज न हों और भविष्य में उन्नति कर इससे और भी ऊंचे पद को प्राप्त करें।

इसमें सन्देह नहीं कि यज्ञोपवीत की महिमा को आचूल मूलं वर्णन कर देना या इदमित्थं ही कह देना, पृथ्वी के परमाणुओं को गिनना,है लेकिन फिर भी "मार्गस्थो नावसीदति" न्याय से शास्त्रमहोदधि की गम्भीर गवेषणा द्वारा जो कुछ कतिपय सिद्धान्तरत्न हस्तगत हुये हैं, उन्हें प्राचीन और कुछ अर्वाचीन, दोनों सरणियों का अवलम्बन करते हुए स्थाली पुलाक न्याय से विज्ञ पाठकों की भेंट करता हूँ आशा है, सहृदयवृन्द इसे अपनावेंगे।

सन्दर्भ शुरू करूं, इससे पेश्तर यह भी लिख देना आवश्यक समझता हूँ कि यज्ञोपवीत—और उसके वैज्ञानिक रहस्य

के सम्बन्ध में मेरे इस लघुकाय लेख से-उन लोगों की अपेक्षा जो विधर्मियों की भान्ति वेद मन्त्रों को गड़रियों के गीत समझ बैठे हों या जिनके विचार उताहो विद्या भवन की आधार शिला निरा तर्क हो, और जो यहाँ तक बह गये हों कि चाहे सारी आर्य संस्कृति ही मूर्त्तिमती होकर क्यों न साक्षात् उपस्थित हो जाय, लेकिन कलिकलमष से कलुषित हृदय की कलर जमीन में विश्वास का बीज पैदा ही न हो ख़ास कर वे लोग समधिक लाभ उठा सकते हैं जो वेद मन्त्रों की असीम शक्ति पर भरोसा रखते हैं और जिनकी दृढ़ धारणा है कि वेद मंत्रों के पाठ व जाप से दैवी शक्ति के द्योतक कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं, तथा ऋषियों की अद्भुत तपः शक्ति, मंत्र शक्ति, एवं परलोक और परमात्मा के लिये ऐसे नास्तिक युग की झकाझोर आँधी के झोंकों में भी जिन सत् पुरुषों ने श्रद्धा और विश्वास के दामन को हाथों से नहीं जाने दिया। स्मृति सार में यज्ञोपवीत शब्द(१)का निर्वचन इस प्रकार किया हुआ है कि-

(१) शास्त्रों में लिखा है कि—

यज्ञोपवीतस्योत्पत्तिं यो न जानाति वै द्विजः।
स मूढ़ो भारवाही च वृषभो नास्तिको यथा॥
निष्फलं वहते भारं यो न जानाति लक्षणम्।
कर्मबाह्यो द्विजो नूनमदृश्यो लोकनिन्दितः॥

यज्ञाख्यः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः।
उपवीतं ततोऽस्येदं तस्माद् यज्ञोपवीतकम् ॥

अर्थात्–"विष्णुर्वै यज्ञः" याज्ञिक लोग जिसको यज्ञरूप विराट् सगुण परमात्मा कथन करते हैं, उसको प्राप्त कराने से यह यज्ञोपवीत कहलाता है। यज्ञोपवीत में यज्ञ + उपवीत दो शब्द समस्त हैं,"यज्ञेन संस्कृतं यज्ञसंस्कृतं, यज्ञसंस्कृतञ्च तदुपवीतं नवसूत्रात्मकं चिह्नं यज्ञोपवीतम्। मध्यमपदलोपः शाकपार्थिवादिवत्" यज्ञ से पवित्र किया उपवीत = वाम स्कन्ध से नाभि और पीठ पर से होता हुआ कमर तक जाने वाला सूत्र, यज्ञोपवीत कहलाता है। अथवा "उपगुरोः समीपे वीयते गम्यते येन साकं तदुपवीतम्" यज्ञ सूत्र भी इसी का नाम है। उपवीत और सूत्र शब्दों के पहले यज्ञ शब्द लगने से यज्ञोपवीत नाम ऐसे सूत्र का पड़ जाता है जो यज्ञ करने का अधिकार देता है।

यज्ञ अनेक हैं, जैसे–ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ, भूत

अर्थात्—जो द्विज होता हुआ भी यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और लक्षण को नहीं जानता, वह भार ढोने वाले बैल की तरह है निरर्थक ही यज्ञोपवीत के बोझ को उठाये हुये हैं। ऐसा निपट मूर्ख व नास्तिक द्विज कर्मबाह्य, अपूज्य और लोकनिन्दित होने योग्य है। अतः सर्व प्रथम यज्ञोपवीत के लक्षण और उत्पति पर विचार प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है।

यज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, और योगयज्ञ आदि २। श्री भगवान्ने गीतामें अर्जुनसे कहा है कि "एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे" ४। ३२। हे अर्जुन! इस प्रकार बहुत से यज्ञों का वर्णन वेद में विस्तार के साथ है।

इन सब श्रौत स्मार्त्त यज्ञों की निष्पत्ति के लिये जिस परमपावन सूत्र को धारण किया जाय उसे यज्ञसूत्र वा यज्ञोपवीत कहते हैं। लेकिन यज्ञसूत्र या यज्ञोपवीत शब्दों से यह नहीं समझना चाहिये कि जिस प्रकार आज कल भी सभ्य पुरुष सभा सोसायटी आदि मजलिस में जाते समय प्रतिष्ठाकी रक्षा के लिये कन्धे पर दुपट्टा, दुशाला, या चादर आदि डाल लेते हैं उसी प्रकार यज्ञ आदि काल विशेष में ही ब्राह्मणादि वर्ण इसे धारण करते होंगे, बाकी दुपट्टा आदि की भान्ति खूंटी पर लटका छोड़ते हो क्योंकि शास्त्र में "सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च" द्विजाति को हर समय उपवीती होकर रहने का विधान है। 'विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्'॥ कात्यायन स्मृति १ ।४। अर्थात् शिखासूत्रहीन नर जो कुछ भी सत्कर्म करता है, वह न करने के ही समान है। यहां तक कि—

विना यज्ञोपवीतेन तोयं यः पिबति द्विजः।
उपवासेन चैकेन पंचगव्येन शुद्धयति॥
बिना यज्ञोपवीतेन विण्मूत्रोत्सर्गकृद् यदि।

उपवासद्वयं कृत्वा दानैर्होमैस्तु शुद्ध्यति ॥

जो द्विजाति यज्ञोपवीत के बिना जल पी ले वह एक उपवास और पंचगव्य से शुद्ध होता है। यज्ञोपवीत के बिना मल मूत्र उत्सर्ग भी करे तो दो उपवास, दान और हवन से शुद्ध होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

दिवा सन्ध्यासु कर्णस्थ ब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः ।
कुर्यान् मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥

आचाराध्याये १६ ।

दिन में और दोनों सन्ध्याओं के समय उत्तर दिशा की तरफ मुख करके और यदि रात्रि हो तो दक्षिणाभिमुख होकर जनेऊ को कान पर चढ़ा के मल मूत्र का त्याग करे। (१)

श्लोक में ब्रह्मसूत्र शब्द आया है, यह भी यज्ञोपवीत शब्दका ही पर्य्यायवाचक शब्द है। स्मृति प्रकाशमें इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि—

सूचनाद् ब्रह्मतत्त्वस्य वेदतत्त्वस्य सूचनात् ।
तत्सूत्रमुपवीतत्वाद् ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम् ॥

ब्रह्मत्व तथा वेदत्व के भी सूचन कराने से यह सूत्र ब्रह्म-

नोट—वशिष्ठस्मृति अ० ६ श्लो० १६ में भी लिखा है—

'उभे मूत्रपुरीषेतु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः
रात्रौ कुर्याद् दक्षिणास्य एवं ह्यायुर्न हीयते ॥

अर्थात्—ऐसा करने से आयु की हानि नहीं होती ॥

सूत्रभी कहाजाता है। इसके द्योतक उपाकर्म और उत्सर्ग कार्य क्रमशः श्रावण भाद्र तथा पौष माघ में अब भी किये जाते हैं उपाकर्म से वेदारम्भ और उत्सर्ग से समाप्ति का कार्य होता है। बाकी महीनों में उस अभ्यस्त वेद को प्राचीन भारतीय अनुभव और अपने क्रियात्मक जीवन में लाते थे। उपाकर्म में हेमाद्रि महासंकल्प को पढ़ते हुये मृत्तिका, गोमय और भस्म आदि मलकर वापी तड़ाग तीर्थ आदि के शुद्ध सलिल में स्नान कर कायिक वाचिक, मानसिक दुरितों का मृजन कर शरीर मन वाणी को वेदपाठोपयोगी बनाते थे। साथ ही इसके ऋषिपूजन कर शुद्ध स्वदेशी सूत के स्वहस्त के काते हुये यज्ञोपवीतों का पूजन, नवतन्तुओं में नव अधिष्ठातृ देवताओं का आवाहन, प्रतिष्ठापन पूजन, तथा अभिमन्त्रण व प्रोक्षण भी किया करते थे और वर्ष भर फिर उन्हीं मन्त्रपूत यज्ञोपवीतों को पहनते थे। जभी तो बूढ़े भारत की गोदी में बालऋषि शृङ्गी जैसे ब्रह्मवर्चस्वी बालक खेलते थे।

साकार विराट् का नाम यज्ञ और निराकार को ब्रह्म कहते हैं। दोनों को प्राप्त कराने से इसके यज्ञोपवीत और ब्रह्मसूत्र ये दो नाम हैं। यज्ञ + उपवीत और ब्रह्म + सूत्र इन दोनों शब्दों के आरम्भ के यज्ञ और ब्रह्म शब्द इस बात को बताते हैं कि यज्ञ करने और वेद पढ़ने का अधिकारी ही यज्ञोपवीत का भी अधिकारी हो सकता है जो कि ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक पुरुष हैं जिसका निर्णय पूर्व किरण में लिख चुके हैं। अस्तु

ब्रह्मसूत्र और यज्ञसूत्र की ही भांति नवगुण, पवित्र, सावित्र द्विजायनी, साविर्त्रीसूत्र आदि नाम भी संस्कृत में यज्ञोपवीत के ही हैं।

यज्ञोपवीत का प्रारम्भ भारत में कब हुआ इसका ठीक २ पता लगाना तो सम्भव नहीं परन्तु इतना कहा जा सकता है कि संसार के प्राचीनतम साहित्य—वैदिक साहित्य-में इस का उल्लेख है। हाँ जिन लोगों में इसका प्रचार है, वे वैदिक धर्मानुयायी हैं चूंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान के प्रतिपादक हैं अतः यह यज्ञोपवीतकी प्रथा अनादिकाल-सिद्ध अथवा 'सनातन' है।

संसार के आदिम पुरुष का नाम ब्रह्मा है। ब्रह्मा स्वयंभू हैं। वेदों का ज्ञान भी इन्हें स्वयं प्रकाशित होता है। इनका कोई आचार्य या उपदेष्टा नहीं है। यही ब्रह्मा जगत् के विधाता और अपने बाद होने वाले ऋषियों के वेदोपदेष्टा हैं। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भमें ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से सृष्टि का आरम्भ होता है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का सिलसिला बराबर चला आरहा है। यह अनादि है।

वेदों के नियम-पूर्वक पढ़ने का अधिकार यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर प्राप्त होता है। जब तक यह संस्कार न हो तब तक वैदिक मतानुसार कोई भी वेदों के पढ़ने का अधिकारी नहीं समझा जाता। फिर ब्रह्मा जी ने वेद कैसे पढ़े? उनका संस्कार किसने कराया? उनसे पहले तो कोई पुरुष

था ही नहीं ? क्या विना संस्कार के—बिना द्विजत्व प्राप्ति के ही उनको वेदों का अधिकार मिला ? क्या वेदों ने स्वयं अपने नियम का उल्लङ्घन किया ? यह कैसे हो सकता है ? वैदिक मत के अनुयायी व यज्ञोपवीत के अधिकारी लोग उसे पहनते समय कुछ मन्त्र पढ़ा करते हैं। उनमें से एक निम्नलिखित है (१) इसका मनन करने से पूर्वोक्त प्रश्न का कुछ रहस्य खुल जायगा।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यज्ञोपवीत परम पवित्र है। यह सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति (ब्रह्मा) के साथ उत्पन्न हुआ था। आयु बल और तेज को देने वाले उस निष्कल्मष यज्ञोपवीत को पहनो।

इस मन्त्र में 'प्रजापतेः सहजम्' यह हेतुगर्भ विशेषण है 'प्रजापतेः सहजत्वात् परमं पवित्रं' प्रजापति का सहज होना परम पवित्रत्व का हेतु है। अर्थात् जो यज्ञोपवीत प्रजापतिका सहजन्मा होनेके कारण परम पवित्र है।

१—यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्य मग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

ब्रह्मोपनिषद्।

नारदपरिब्राजकोपनिषद् ४ थं उपदेश। छन्दोगपरिशिष्ट पारस्करगृह्यसूत्र २ कां २ कं ११ सू०

बात स्पष्ट है। ब्रह्मा जी पवित्र हैं। वेदों के विधाता और सृष्टि के रचयिता की पवित्रता में किसे सन्देह हो सकता है? परन्तु यह पवित्रता हुई कैसे? यदि यज्ञोपवीत ब्रह्मा जी का सहजन्मा न होता, तो क्या उन्हें वेदों का अधिकार हो सकता था? कदापि नहीं। वैदिक मत के अनुसार तो अनुपनीत पुरुष को न नियम पूर्वक वेद पढ़ने का अधिकार है, न पढ़ाने का। यदि यज्ञोपवीत न होता तो ब्रह्माजीको भी वेदाधिकार कैसे प्राप्त होता? यह इसी के कारण हुआ है। फिर जब ब्रह्मा जी के सदृश पवित्रात्माओं की पवित्रता भी यज्ञोपवीत के ही ऊपर निर्भर है तो उस (यज्ञोपवीत) के परम पवित्र होने में क्या सन्देह है? वेदाधिकारका निष्पादक और द्विजत्व का सम्पादक होने के कारण यज्ञोपवीत परम पवित्र है और निस्सन्देह परम पवित्र है। इसीलिये तो कहा है कि–'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्'॥

यज्ञोपवीत ब्रह्मा जी के साथ पैदा हुआ। वेदों का ज्ञान भी उन्हें सृष्टि रचना–सामर्थ्य की तरह जन्म सिद्ध हुआ। इसी कारण किसी वेदोक्त नियम का भंग नहीं हुआ हां एक बात है। हम यह अयोनिज सृष्टि की बात कह रहे हैं, 'स्वयंभू' के जन्म का हाल बता रहे हैं, आजकल की सृष्टि का नहीं। रजवीर्य से निष्पन्न, ९ मास गर्भमें रहनेसे सम्पन्न और माता पिता से उत्पन्न प्राणियों में न तो कोई यज्ञोपवीत पहने पैदा हो सकता है, । न किसीको बिना संस्कार तथा आचार्य

के जन्मसिद्ध वेदाधिकार ही प्राप्त हो सकता है। यह 'पुरस्तात्' सृष्टि के आरम्भ की बात है, आज की नहीं। स्वाभाविक ज्ञान को तरह वेदों के स्वयं प्रतिभात होने की कथा है। गुरुके पास जाकर नियमपूर्वक वेद पढ़ने वालों की नहीं। यह पूर्वोक्त पद्य के पूर्वार्द्ध की बात हुई। अब इसके उत्तरार्द्ध पर ध्यान दीजिये। आचार्य (गुरु) बालक को यज्ञोपवीत पहनाते समय कहता है कि तू "शुभ्रं यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्च"- परम पवित्र यज्ञोपवीत को पहन। यह तेरे लिये 'अग्र्यम् आयुष्यम् अस्तु,सबसे बढ़कर आयु देनेवाला हो और 'बलं तेजः अस्तु'-बल तथा तेज देने वाला हो अब देखना यह है कि ये जनेऊ के तीन सूत जो आजकल गली २ मारे २ फिरते हैं ! मनुष्य को आयु बल और तेज कैसे देसकते हैं ? इनमें ऐसी कौन सी बात है जो आयु, बल और तेज पैदा करती है ?

यज्ञोपवीत पहनने वालों में आज ऐसे कितने हैं, जो पूर्णायु, बलिष्ठ और तेजस्वी हों। सच तो यह है कि आज हिन्दुओं के शास्त्रोक्त संस्कारों का क्रियात्मक दृष्टि से प्रायः विलोप होगया है। यज्ञोपवीत संस्कार भी अब नाममात्र को रह गया है। केवल रस्म अदा की जाती है। संस्कारका क्या महत्व है ? उसके कितने अङ्ग हैं, उनका क्या तात्पर्य है इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। ध्यान दे भी कौन ? जो इस संस्कार में आचार्य बनते हैं वे स्वयं इन बातों से अनभिज्ञ होते हैं। अधिकांश अर्थज्ञान-शून्य लोग कुछ मन्त्रों को रटकर

कर्मकाण्ड के आचार्य बन जाते हैं। रहे यजमान, वे निपट अनारी! फिर उन्हें संस्कार से कुछ दिलचस्पी भी नहीं। 'यह सब तो पण्डित जी कर लेंगे, उन्हें तो सिर्फ यह फिक्र सवार रहती है कि जनेऊ की दावत में किस २ अंग्रेज को बुलाया जाय और क्या २ खिलाया जाय। जनेऊ की महफिल में मुजरा किसका कराया जाय। ऐसी दशा में यदि लोगों को इसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञान न हो तो आश्चर्य ही क्या है? अपढ़ लोगों को जाने दीजिये। आप पढ़े लिखे लोगों से ही पूछना शुरू कीजिये कि आप यह जनेऊ क्यों लटकाये हैं इसे हर वक्त बायें कन्धे पर ही रखने की क्या आवश्यकता है? दूसरी ओर बदल कर पहनें तो क्या हर्ज है? पितृकार्य (श्राद्ध) करते समय दहिने कन्धे पर कर लिया जाता है, यह क्यों? पाखाने पेशाब के समय इससे कान बांधने की क्या जरूरत? इसमें तीन ही तार क्यों? ब्रह्मग्रन्थि का क्या मतलब? कंधे से कमर तक ही यह क्यों रहता है? इस प्रकार की निर्माण प्रक्रिया क्यों? आखिर इन बातों में कुछ तत्व है या यों ही केवल अन्धपरम्परा है? जब इन बातोंका पता ही नहीं तो फिर पूर्णायु, बलिष्ट, व ब्रह्मवर्चस्वी होना तो बालू से तेल निकालना है।

यज्ञोपवीत की उत्पत्तिके विषय में लो० बालगङ्गाधर तिलक ने अपनी अङ्गरेजी की "ओरायन" नामक पुस्तक में प्रसङ्गवश जो कुछ लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है।

"मृगशीर्ष नक्षत्र को वैदिक शब्दों में प्रजापति और यज्ञ

कहते हैं। किसी समय (ओरायन के मतानुसार ६००० वर्ष पूर्व) इस नक्षत्र से वर्ष का आरम्भ माना जाता था (संस्कृत में मार्गशीर्ष का अग्रहायण भी नाम है)। वर्ष के आरम्भ से अन्त तक नाना यज्ञ किये जाते थे। मृगशीर्ष नामक नक्षत्र मण्डल में कुछ तारकाओं की स्थिति मेखला के आकार की है। मृगशीर्ष या प्रजापति या यज्ञ की इस मेखला को देख कर प्राचीन आर्यों ने मेखला तथा यज्ञोपवीत धारण करना आरम्भ किया था। पट्टा, डोरी या कपड़े का एक टुकड़ा जो यज्ञ के समय कमरबन्द के रूप में कमर पर बान्धा जाता था वही यज्ञोपवीत कहाता था। पारसी लोग भी जो आर्यवंशज हैं और किसी समय आर्यों के साथ भारतवर्ष में रहते थे, कमरबन्द के रूप में यज्ञोपवीत पहनते हैं किन्तु भारतीय आर्यों में यह कन्धे से लटकाया जाता है।

पारसी और भारतीयों के उपवीत मन्त्रों में भी सादृश्यता है। भारतीयों का मन्त्र—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं,
प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्य मग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं,
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

ब्रह्मोपनिषद् ।

पारसियों का मन्त्र—

"फ्राते मज़दाओ वरत् पौरवनिम् आयम्य ओं घनेम् स्तेहर पाए संघेस् मैन्यु- तस्तेम् बंधुहिम् दाएनम् मज़दयास्निम्,,

भावार्थ-मज़दा या सनिन् धर्म के चिह्न हे तारकामरिडत कुश्ता (मेखले)! तुझे पुराकाल में मजदा ने धारण किया है।

मृगशीर्ष नक्षत्र के प्रजापति मान लेने का कारण यह हुआ है कि शतपथ ब्राह्मण के २।१।२।८। वें मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है कि-

"इषुणा तस्य शिरश्चिच्छेद, इषुः शिरश्चेत्युभयमन्तरिक्षमुत्प्लुत्य नक्षत्राऽत्मनाऽवस्थितं दृश्यते,,

अर्थात्-रुद्र ने जब प्रजापति का शिर बाण द्वारा काटा तब वह बाण तथा शिर उड़ा और आकाश में जाकर ठहर गया, जो कि नक्षत्र रूप से दिखाई देता है। रात्रि के समय आकाश में अतिक्षुद्र नक्षत्रावली की जो एक चौड़ी और असीम लम्बी धारा दिखाई देती है जिसे अंग्रेजी में (milky way दूधी डहर संस्कृत में आकाशगंगा और पुराणों में वैतरणी कहते हैं उसे आकाश जनेऊ भी कहते हैं।"

मृगशीर्ष की मेखला (कमरपट्टा) के अनुकरण से यज्ञोपवीत की उत्पत्ति लोकमान्य ने हृदय से स्वीकृत की हो,

यह बात नहीं; बल्कि अपने मुख्य विषय के प्रतिपादन में प्रसङ्गवश उन्होंने यह भी एक अनुमान कर डाला कि जब मृगशीर्ष का नाम यज्ञ भी है तब उसका उपवीत 'यज्ञोपवीत' हो सकता है।

जो कुछ भी हो, लो० तिलक का अनुमान उपनिषदों में उल्लिखित संवत्सर रूप शशिचक्र के जोड का है जिसका स्पष्टीकरण सम्भवतः आगे चलकर विषुवद्वृत्त और क्रान्तिवृत्त के साथ किया जायगा।

प्रश्न—क्यों जी! मलमूत्र उत्सर्ग के समय जनेऊ कान ही पर और वह भी दक्षिण ही कान पर क्यों लपेटा जाता है और दिन हो तो उत्तराभिमुख और रात में दक्षिणाभिमुख हो मलमूत्र त्याग करें! यह जो आपने धर्मनियम बताया इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सुनो! पहले सूचीकटाहन्याय से द्वितीय भाग का उत्तर सुनलो, क्योंकि उत्तरायण, दक्षिणायन शुक्ल और कृष्ण गति की भान्ति दिन और रात का सम्बन्ध क्रमशः उत्तरदिगवस्थित देवलोक तथा दक्षिणदिगवस्थित पितृलोक से है अतः जिस प्रकार मानसिक वृत्तियों का अदृष्टसम्बन्ध सूर्य के साथ होने से प्रातः सायं की सन्ध्या में सूर्याधिष्ठित दिशा पूर्व व पश्चिम अभिमुख होना होता है ठीक इसी प्रकार उत्तर व दक्षिणाभिमुख होने में भी देवता व पितरों के साथ योगगम्य अदृष्ट सम्बन्ध कल्पना ही रहस्य

समझो। किसी के समय व अधिकार में उससे पराङ्मुख होना उसका निरादर सूचक और अपना हानिकारक होता है यह भी लोकप्रत्यक्ष है।

कान पर जनेऊका भी उत्तर सुनो, शास्त्र में लिखा है कि--

"नाभेरूर्ध्वं मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः मनु०

अर्थात् मनुष्य शरीर का नाभि से ऊपर का हिस्सा अत्यन्त पवित्र होता है। है भी ठीक, क्योंकि मलमूत्र का कोष्ठ नाभि से नीचे ही है अतः इसका अपवित्र होना स्वभाविक है। इस लिये यज्ञोपवीत जैसे मन्त्रसंस्कृत परमपावन धार्मिक चिन्ह को मल मूत्र उत्सर्ग काल में अपवित्रता से बचाने के लिये शरीर के पवित्र भाग में रखना ही उचित है। यदि कहो कि नाभि से उपरि भागमें रखना ही अभीष्ट है तो और किसी अङ्गमें क्यों न लपेट लिया जाय? तो तब भी वही शङ्का बनी रही कि उसी अङ्गपर लपेटनेकी साधक युक्ति क्या है यदि कोई नियम न कियाजाय तो फिर कहोगे कि कुछ नियम तो किया ही नहीं अनियमित काम ठीक नहीं होता इस लिये यदि शास्त्र की आज्ञानुसार कान पर ही लपेट लिया जाय तो ठीक है। शरीर के ऊपरी भाग में भी शिर ज्ञान का भण्डार होने से अधिक पवित्र है और उसमें भी दहिने कान को तो बहुत ही पवित्र माना है, अतएव यज्ञोपवीत जैसे परमपवित्र चिन्ह को पवित्र से पवित्र स्थान पर लपेटने का पूर्वाचार्योंने

आदेश किया है। और वह पवित्रतम अङ्ग दक्षिण कर्ण है। इसमें प्रमाण शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिनी वाजसनेयियों की आह्निक सूत्रावली में लिखे आचार्यों के वचन हैं—

आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट्।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः॥

शाङ्ख्यायनः।

अग्निरापश्च वेदाश्च सोमः सूर्योऽनिलस्तथा।
सर्वे देवास्तु विप्रस्य कर्णे तिष्ठन्ति दक्षिणे॥

आचारमयूखे।

प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे वसन्ति मुनिरब्रवीत्॥

पराशरः॥

श्लोकों में उल्लिखित देवताओं और तीर्थोंका द्विजाति का दक्षिण कर्ण निवासभूत है अतः उसकी इतनी महिमा बढ़ी(१)

यह भी सब जानते और समझते हैं कि ब्रह्मचर्य ही जीवन की नींव है। और वीर्य का मुख्य केन्द्र मस्तिष्क है। यों तो

नोट १—पाराशर स्मृति अ० ७ श्लो० ३८ में लिखा है—

क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते।
पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्॥

छींकने पर, थूकने पर, दान्तों से किसी अन्न के उच्छिष्ट हो जाने पर झूठ बोलने और पतितों के साथ सम्भाषण करने पर अपने दहिने कान का स्पर्श करे। इतना पवित्र माना है।

समय पाकर शरीर के नवों द्वारों से वीर्य स्खलित होता रहता है लेकिन मल मूत्र के द्वार उसके प्रधान द्वार हैं। मल मूत्र उत्सर्ग काल में वीर्य मस्तिष्क से हिल कर दहिने कान की लोहितिका नाड़ी से होता हुआ मल मूत्र के साथ ही अक्सर स्खलित होता रहता है। जिसको सर्वसाधारण नहीं जानते लेकिन परिणाम बड़ा भयानक होता है।

लोग नपुंसक निर्बल, निर्बुद्धि और अस्वस्थ होजाते हैं जीवन उनके लिये भारभूत होजाता है। डाक्टर लोग लघुशंका के ही द्वारा वीर्यपात का पता लगाया करते हैं। आज कल लोग शास्त्रों पर विश्वास नहीं करते। हमारे पूज्यपाद तत्ववेत्ता सुदूरदर्शी दयालु ऋषियों ने अपनी सन्तति को इस भयानक रोग से बचाने के लिये कर्णवेध संस्कार द्वारा पहले ही उस लोहितिका नाड़ी को वेधने का विधान कर दिया। और साथ ही इसके सर्पविष की बढ़ती गति को रोकने के लिये डोरा आदि बान्धने की भाँति मलमूत्र उत्सर्ग काल में यज्ञोपवीत द्वारा कान को लपेटने का भी विधान कर दिया जैसा कि ऊपर लिखभी चुके हैं जिससे कि रही सही भी गति वीर्यकी रुक जाय ताकि निरर्थक ही वीर्यपात न होता रहे। बल्कि उस समय शिरोवेष्टन (अंगोछा द्वारा ललाट भी लपेट लेना चाहिये ताकि वीर्य रक्षा द्वारा निर्वीर्य रोगी और बुद्धिहीन न होकर हृष्ट पुष्ट और सदा स्वस्थ रहे। लेकिन स्मरण रहे शास्त्र कहते हैं "मैथुन तूपवीतिवत्" अंगिरा:। अर्थात्-निज भार्या से

समागम काल में यज्ञोपवीत को कान में न लपेट कर कण्ठ में ही उपवीती होकर रक्खे। ऐसा करने में रहस्य क्या है? यह विचारशीलों के लिये एक तत्वभरी महत्त्व की बात है। हमें ऋषियों का चिरकृतज्ञ होना चाहिये जो अपनी सन्तति के कल्याण के लिये गागर में सागर भर कर दिखा गये। कान पर यज्ञोपवीत लपेटने का यह भी एक सीधा सा प्रयोजन है कि जब तक वह व्यक्ति मल मूत्रोत्सर्ग जन्य अशुद्धि को पानी शौच, हस्त पाद प्रक्षालन द्वारा-जोकि वैद्यक के लिहाज़ से भी बवासीर आदि मल मूत्र के स्थानों में होने वाली बीमारियों के लिये रामबाण औषध है-तथा गण्डूष (कुल्ला) द्वारा दूर न कर लेगा तब तक यज्ञोपवीत कान में पड़ा २ साइन बोर्ड की तरह सूचना देता रहेगा कि शुद्धि करो २। तथा दूसरे लोग भी दूर ही से कान में पड़ा जनेऊ देख कर उसके साथ तब तक वैसा व्यवहार नहीं करेंगे जैसा कि एक पवित्र पुरुष के साथ किया जाना चाहिये। तस्मात् प्रत्येक द्विजाति को मल मूत्र उत्सर्ग कालमें यज्ञोपवीत कान पर अवश्य लपेट लेना चाहिये।

प्र० क्यों जी! यज्ञोपवीत के बिना अन्न जल ग्रहण कर सकते हैं या नहीं? यदि नहीं तो क्यों?

उ०-यह तो पहले लिख चुके हैं कि यज्ञोपवीत के बिना पानी पीना भी धर्म नहीं। यज्ञोपवीत-संस्कार को 'व्रतबन्ध' भी कहते हैं। व्रत नाम नियम, प्रण प्रतिज्ञा का है। यज्ञोपवीत

काल में आचार्य के दिये हुये वर्णाश्रमाचार के अनुकूल संयम् रूप उपदेश द्वारा द्विज बालक नियम बद्ध होजाता है सन्ध्योपासनादि नित्य नेम पूरा किये बिना क्या खान, क्या पान कुछ भी तो नही सूझता। नियम धर्मप्रेम को प्रकट करता है-अर्थात्-धर्म से बढ़कर प्रिय कुछ नहीं। यज्ञोपवीत को पृथक् कर खान पान करना मानो अपने प्यारे धर्म को जो अन्त का सच्चा साथी है-अपने से जुदा कर पशु वृत्ति से वर्तना है।

कहते हैं कि लंका में जब महावीर जी ने बड़ा ऊधम मचा था किसी की भी तो पेश न चली, तमाम अस्त्र शस्त्र विफल हो गये तो चतुर मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र डाल कर महावीर वज्र अङ्गी को उछल कूद मचाने से विवश कर दिया। होसकता है कि वह ब्रह्मपाश यज्ञोपवीत ही हो। यज्ञोपवीत की ब्रह्मग्रन्थि को ब्रह्मफांस भी कहते हैं। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि जब मारुतिनन्दन के गले में ब्रह्मपाश पड़ा तो विवश हो कह उठे थे कि—

न मे ऽस्य बन्धस्य च शक्तिरस्ति विमोक्षणे लोकगुरोः प्रभावात् ।इत्येवमेवं विहितोऽस्त्रबन्धो मयात्मयोनेरनुवर्तितव्यः ४१ सुं० कां० ४८ स०।

लोक गुरु ब्रह्मा जी के प्रभाव से इस बन्धन से तो छूटने की शक्ति मुझ में नहीं अतः इस ब्रह्मपाश के सामने श्रद्धा से शिर झुकाना ही ठीक है। भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

दो०-'ब्रह्म अस्त्र ने साधयो कपि मन कीन विचार
जो न ब्रह्मशर मानिहौं महिमा मिटे अपार॥

द्रोण जैसे पर्वत को उठाने वाले तथा बड़े २ राक्षसों के मान मर्दन कर देने वाले वायुपुत्र हनुमान जी इस नौ तार के सूत्र से किस तरह विवश होगये उनके हृदय में ब्रह्मसूत्र के लिये कितना सन्मान था ? यह उनकी पराधीनता ही बता रही है। लिखा है कि—

ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम्।
कृतो ग्रन्थिस्त्रिनेत्रेण गायत्र्या चाभिमन्त्रितम्॥

सामवेदीय छान्दोग्यसूत्र परिशिष्ट

अर्थात्-ब्रह्मा जी ने तो वेदत्रयी से तीन तन्तु का एक सूत्र बनाया विष्णु ने कर्म उपासना और ज्ञान तीनों काण्डों से तिगुना किया और शिव जी ने गायत्री से अभिमन्त्रित कर गांठ दी। जिससे यज्ञोपवीत नौ तार का बन गया और उसकी इतनी अपार महिमा होगई।

मर्यादा पुरुषोत्तम धनुर्धारी भगवान् राम परशुरामजी के सन्मुख इसी बल पर झुक गये थे कि—

भो ब्रह्मन्! भवता समं न घटते संग्रामवार्त्ताऽपिनो,
सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयंस्थिता मूर्धनि।
यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजाम्,

अस्माकं भवतो यतो नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥

अपने एक डोरी वाले धनुष को परशुराम जी के उस नौ डोरे वाले यज्ञोपवीत के सामने कुछ भी तो महत्व न दिया। भला जब स्वामी के ही हृदय में ब्रह्मसूत्र के लिये उतना सन्मान था तो लङ्कामें राक्षसोंके बाच बंध जाने पर भी उनका सेवक उसे क्यों न अपनाता? छोटे हमेशा बड़ों के चरण चिन्हों पर चलते हैं।

भगवन्! वे दिन भारत में कब आवेंगे जब कि फिर से एक बार वैसी ही धार्मिक निष्ठा जागृत हो।उठे! प्रत्येक द्विजाति को शिखा सूत्र के लिये सन्मान हो, अभिमान हो?

शास्त्रकार लिखते हैं कि—

यः पठेत् प्रातरुत्थाय स्नानकाले द्विजोत्तमः
तस्य यज्ञाधिकारः स्याद् ब्रह्मयज्ञफलं लभेत्॥

सामवेदीय छा० सू० परिशिष्ट॥

जो द्विजोत्तम प्रातःकाल उठकर इस यज्ञोपवीत महिमा का पाठ भी करे तो उसे यज्ञ का अधिकार तथा ब्रह्मयज्ञ का फल प्राप्त होता है। ऐसी महामहिमावाली वस्तु को कौन मन्दभाग्य अपने से जुदा करेगा?

प्र०—कृपया आप यह भी बतलाइये, जिस यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और लक्षण तथा महिमा के पाठमात्र का भी इतना बड़ा माहात्म्य है और जिसे—

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्।
देवतानां पितृणाञ्च भागो येन प्रदीयते॥

अर्थात् द्विजाति के लिये यज्ञोपवीत मोती और सुवर्ण के बिना ही मोती और सुवर्ण के भूषणों से बढ़कर भूषण है, क्यों कि इसके द्वारा देवऋण (यज्ञादि) पितरों के अंश (श्राद्धादि) तथा ऋषिऋण तक (स्वाध्यायादि) से भी मुक्त होता है इत्यादि वचनों द्वारा अमूल्य और अनुपम ठहराया गया है कहीं वेदोंमें भी उसका ज़िक्र आया है या नहीं? हमने तो न देखा और न सुना है।

उ०—क्यों नहीं आया। यदि तुमने न देखा और न सुना हो तो इससे यह नहीं समझा जासकता कि वेदोंमें यज्ञोपवीत का ज़िक्र ही नहीं "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति" यह स्थाणु (वृक्ष के रुण्ड मुण्ड तने) का अपराध नहीं कहा जाता जो कि अन्धा उसे नहीं देखता।

आज कल के लोगों में यह भी एक बीमारी घुस गई है कि तुच्छातितुच्छ बातों के लिये भी वेदों का फज़ीता करते फिरते हैं। बताओ वेद में? वेद न हुआ कबाड़खाने का स्टोर हुआ। चर्खाधारी गांधी जैसे महापुरुष भी इस दुराग्रह के चंगुल से न बच सकें।

"एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति" इस गीता के श्लोक से चर्खा ही घड़ मारा, कि—हे अर्जुन! 'एवं प्रवर्तितं चक्रं' इस प्रकार

घूं २ की ध्वनि से घूमते हुये चर्खे को 'नानुवर्तयतीह यः' जो नहीं चलाता वह इन्द्रियलोलुप, पापायु, जगत में वृथा ही जीवित है) हंसी आये बगैर नहीं रहती भला ! चर्खा क्या ? और उसका गीता से सम्बन्ध क्या ? कर्म, उपासना, ज्ञान की बात हो तो कोई मान भी ले। इसी प्रकार के दिलचले लोगों ने वेदों के अन्दर मोटर दौड़ा, बिजली चमका, टेलीफोन, तोप और तार का जाल बिछा उनके महत्व को ही घटा डाला।

कल यह भी सवाल हो सकता है कि आँखों की पलक मारना, नाक साफ करना, टट्टी पेशाब फिरना, भोजन खाना और उसके साथ पानी पीना यह सब वेदमें दिखलाओ! नहीं तो वेद के विरुद्ध मत चलो। इसलिये तुच्छातितुच्छ बातों के लिये भी यदि वेदमन्त्र ही होते तो न जाने कितने अरब खरब मन्त्र होते, कौन प्रेस उन्हें छापता और कौन भाग्यवान् खरीदता और पढ़ता !!! लेकिन यज्ञोपवीत क्योंकि वैदिक धर्म का आवश्यक अङ्ग है इसलिये वेदमन्त्रों में उसकी चर्चा बीज रूप में आनी जरूरी थी, सो वेद में भी दिङ्मात्र तुम्हें दिखा देते हैं—

यजुर्वेद अ० १६ मं० १७ "हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः" मन्त्र में 'उपवीतिने' यह पद स्पष्ट पड़ा है।

प्र०-भगवन् ! यह तो मैं समझ गया हूँ कि यह (यज्ञोपवीत) बड़े माहात्म्य की वस्तु है, जिसके बिना हम पग भर भी नहीं

चल सकते और जिसके गुणोंका गान स्वय वेदोंने भी किया है, बलिक वेद पढ़ ही इसकी कृपा से सकते हैं, सो यह बतलाने की कृपा करें कि शास्त्रों में इसकी निर्माणविधि क्या है? किस प्रकार बनाया जाता है? और उस विधि का विज्ञान क्या है?

उ०-सुनो, कात्यायनपरिशिष्ट में लिखा है कि—

"अथातो यज्ञोपवीतनिर्माणप्रकारं वक्ष्यामः ग्रामाद् बहिस्तीर्थे गोष्ठे वा गत्वा अनध्याय वर्जितपूर्वाह्ने कृतसन्ध्योऽष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथाशक्ति गायत्रीं जपित्वा ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या ब्राह्मण्या वा कृतं सूत्रमादाय भूरिति प्रथमां षण्णवतिं मिनोति, भुवरिति द्वितीयां, स्वरिति तृतीयां मीत्वा पृथक् पलाशपत्रे संस्थाप्य 'आपोहिष्ठेति, तिसृभिः(१) 'यज्ञोदेवी' रित्यनेन (२) सावित्र्या (३) चा-

१—टि० ओ३म् आपोहिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन, महेरणाय चक्षसे १ ॐ योवः शिवतमोरसस्तस्य भाजयते हनः। उशतीरिव मातरः २। ॐ तस्मा अरंग मामव, यस्य क्षयाय जिन्वथ, आपो जन यथाचनः ३।

२– शन्नोदेवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये, शंयो रभिस्रवन्तु नः॥

३– ॐ तत्सवितुरित्यादि।

भिषिच्य वामहस्ते कृत्वा त्रिः सन्ताड्य व्याहृतिभिस्त्रिवलितं कृत्वा पुनस्ताभिस्त्रिगुणितं कृत्वा पुनस्त्रिवृतं कृत्वा प्रणवेन ग्रन्थिं कृत्वोङ्कारमग्निं नागान् यमं पितॄन् प्रजापतिं वायुं सूर्यं विश्वान् देवान् नवतन्तुषु क्रमेण विन्यस्य संपूजयेत्। (४) 'देवस्यत्वे'त्युपवीतमादाय (५) उद्वयं तमसस्परी'त्यादित्याय दर्शयित्वा 'यज्ञोपवीतमसि,(६)त्यनेन धारयेदित्याह भगवान् कात्यायनः॥

प्रकृत में यह विधि शुक्ल यजुः शाखा की है। कृष्ण यजुर्वेदियों के लिये भी–

"अथातो यज्ञोपवीतक्रियां व्याख्यास्यामो ब्राह्मणेन तत्कन्यया वा कृतसूत्रमानीय भूरिति प्रथमां षण्णवतिं मिनोति–

४–ॐ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे॥ ५–उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्ज्योतिरुत्तमम्॥ ६– ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापते–र्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ पारस्करगृ० सू० २ कां २ कं० ११ सू०॥ ब्रह्मोपनिषद्। नारदपरिव्राजकोपनिषद्, ४ र्थ उपदेशः छन्दोगपरिशिष्ट॥

यहां से लेकर 'इत्याह भगवन् बौधायनः' यहां तक बहुत बड़ा सूत्र है। कृष्णयजुर्वेदियों को चाहिये कि 'कृष्णयजुर्वेदीय बौधायनसूत्र' को देख लाभ उठावें। इस समय हम ग्रन्थ विस्तारभय से समग्र सूत्र-यद्यपि मिलता जुलता भी है-न देकर केवल शुक्लयजुः शाखा की ही विधि अर्थ सहित लिखते हैं—

"भगवान् कात्यायन महर्षि कहते हैं कि अब हम यज्ञोपवीत बनाने की विधि कहेंगे-यज्ञोपवीत बनाने वाले को चाहिये कि गांव से बाहर तीर्थ या गोष्ठ (गोशाला) आदिक शुद्ध स्थान पर जावे। अनध्यायों को छोड़ कर स्वाध्यायके दिन पूर्वाह्न अर्थात् मध्याह्न और भोजनसे पहले स्नान सन्ध्या करके गायत्री का १०८ अथवा १००० एक सहस्र जप करे। बाद ब्राह्मण वा उसकी कन्या का अथवा सुहागिन पतिव्रता धर्मचारिणीका बनाया हुआ सूत लेवे। देवल ऋषि कहते हैं कि-

विधवारचितं सूत्र-मनध्यायकृतञ्च यत्।
विच्छिन्नं चाप्यधोयातं भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत्॥

अर्थात्-यज्ञोपवीत के लिये विधवा स्त्री के काते हुये, अनध्याय में बनाये हुये टूटे हुये नीचे पड़े हुये और भोजन के बाद निर्माण किये हुये सूत को न ग्रहण करे।

जिस समय वृक्ष पर से कपास लेवे तो प्रणवका जाप करता रहे। व्याहृतिका जप करता हुआ कपासको बिनौलों से पृथक् करे। और पुरुष सूक्त का पाठ करते हुए सूत काते। इस

प्रकार से बने हुये पवित्र सूत को लेकर अपने दहिने हाथ की चारों अङ्गुलियों को इकट्ठो कर आपस में खूब सटाले। फिर उन सटी हुई अङ्गुलियोंके मूल देशमें ९६ वार गिनकर लपेट ले॥ अनन्तर उन ९६ चप्पों को 'भूः' इस व्याहृतिका जप करते हुए ढाक के पत्ते पर उतार देवे। ऐसे ही दूसरी वार भी ९६ वार लपेट कर 'भुवः' इस व्याहृति का जप करते हुये ढाक के पत्ते पर उतार दे। और इसी प्रकार तीसरी वार भी ९६ चप्पे ले कर 'स्वः' इस व्याहृति का जप करते हुए उन्हें भी ढाक के पत्ते पर उतार दे। फिर उन तीनों चप्पियों को "आपोहिष्ठा" इत्यादिक तीन मन्त्रों से तथा 'शन्नो देवीः' इससे और गायत्री मन्त्र से भी जल के छींटे देकर गीली करले। अनन्तर ढाक के पत्ते से बायें हाथ पर रख कर तीन वार ताड़ना करे। अर्थात् जल सींच कर तीन वार फट् २ करके दक्षिण हस्त द्वारा फट्कार ले, ताकि अच्छी तरह भीग जावें।

इसी विधि को मदनपारिजात नामक ग्रन्थ में देवलऋषि भी लिखते हैं कि—

'शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहताङ्गुलिमूलके।
आवेष्ट्य षण्णवत्या तत् त्रिगुणीकृत्य यत्नतः॥
अब्लिङ्गैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्य,

'अब्लिङ्गैः' का तात्पर्य—उन मन्त्रोंसे हैं जिनमें अप् शब्द आता है। वे 'आपोहिष्ठा मयोभुवः' इत्यादि तीन मंत्र हैं जि-

न्हें पीछे लिख भी चुके हैं, उनके द्वारा उन तीनों चप्पियों को जल से अभिषिक्त करले, इत्यादि अर्थ पहले की ही भाँति है।

प्र०–क्यों जी ! ९६ ही चप्पे क्यों होते हैं, न्यूनाधिक क्यों नहीं होते ? इसका शास्त्र में यद्यपि विधान मिल चुका लेकिन विज्ञान से भी सप्रमाण समाधान कीजिये । और चप्पा (चौआ) से तात्पर्य क्या है ?

उ०–सुनो, चारों वेदों और उनके घन, पद, क्रम जटा चतुर्विध पाठ को लक्ष्य रख कर दक्षिण हाथ की सटी हुई चारों अँगुलियोंके चहुँ ओर सूतके लपेटे को चप्पा या चौआ कहते हैं ।

९६ ही चप्पे इस लिये होते हैं कि 'लक्षन्तु वेदाश्चत्वारो लक्षमेकन्तु भारतम्" चारों वेदों की एक लाख श्रुतियां हैं और कर्म, उपासना, ज्ञान ये तीन काण्ड हैं जिनसे मनुष्य मन के क्रमशः मल, विक्षेप, आवरण इन त्रिविध दोषों को दूर कर परमपद प्राप्त करता है । एक लक्ष श्रुतियों में से ८०००० अस्सी हजार कर्म काण्ड की १६ हजार उपासना काण्ड की और शेष ४ हजार ज्ञानकाण्ड की हैं ।

कर्म और उपासना दोनों काण्डों को मिला कर ९६ हजार श्रुति होती हैं । ये ही यज्ञोपवीतके ९६ चप्पे हैं । एक २ चप्पे से तात्पर्य एक २ सहस्र श्रुति से है इस प्रकार ९६ चप्पे लेने होते हैं जिसका अभिप्राय यह होता है कि हे जीव ! आज से तेरे कन्धे पर ९६ सहस्र श्रुतियों का भार है, उनमें विहित धर्म

के आदेशानुसार संसारयात्रा को निभाता हुआ परमधाम की योग्यता पैदा कर और उन्हें हर समय अपने हृदय से जुदा न होने देना, इसी में तेरा कल्याण है ।

प्र०–क्या शेष ज्ञानकाण्ड की ४ हज़ार श्रुतियां नहीं पढ़ी जातीं जो कि ९६ ही सहस्र श्रुति लेकर ९६ चप्पे का यज्ञोपवीत बना डाला, इसमें रहस्य क्या है स्फुट कीजिये ?

उ०–पढ़ी क्यों नही जातीं, लेकिन शास्त्र की आज्ञा है कि "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । मनु० ६ । ३५ ब्राह्मण वेदनिर्दिष्ट कर्मकलाप द्वारा। देवर्षि पितृ ऋण को यज्ञ, स्वाध्याय तथा धर्म पूर्वक सन्तानोत्पत्ति से चुका कर अनन्तर आयु के चतुर्थ भागमें चतुर्थ आश्रम (संन्यास) में प्रवेश करे । संन्यास आश्रममें यज्ञोपवीत (१)की इति कर्तव्यता रह ही नहीं जाती । उस समय तो एकचित्त हो अद्वैत साम्राज्य में विचरण करे । 'आध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्"मनु० ६।८३।संन्यासी उपनिषदोंमें प्रतिपादित उन शेष निवृत्तिप्रधान ज्ञानकाण्ड की ४ सहस्र श्रुतियों का ही निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता रहे ।

वेद के मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये चार

नोट १–"कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः । तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥ ब्रह्मोपनिषद् । जो ब्राह्मणादि वर्ण वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकृत हैं उन्हें ही कर्मकाण्ड का अङ्गभूत होने से-यह यज्ञसूत्र धारण करना चाहिये ॥

विभाग हैं। जो कि क्रमशः ब्रह्मचारी गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी के लिये विशेष कर उपयुक्त हैं। सो संन्यास आश्रम में कर्मकलाप सापेक्ष यज्ञोपवीत का विधान न होने से ज्ञानकाण्ड की ४ सहस्र श्रुतियां उसमें शामिल नहीं की जातीं।

संन्यासी के शिखा सूत्र नहीं होते इस विषय में भगवान् शंकराचार्य और बौद्धों के मूर्धन्य विद्वान् मण्डन मिश्र का शंकर दिग्विजय में बड़ा ही रोचक संवाद है। कहते हैं जिस समय भगवान् शंकराचार्य माहिष्मती नगरी में मण्डन मिश्र के यहाँ उससे शास्त्रार्थके लिये पहुँचे तो संन्यासी होनेके कारण शिखा सूत्र रहित तो थे ही कन्धे पर एक भारी सी कन्था (गुदड़ी) भी रक्खी हुई थी। मण्डन मिश्र स० ध० के प्रचण्ड प्रचारक स्वा० शंकराचार्य को इस वेष में देख कुछ कुढ़ कर तिरस्कार और ताने के साथ कहने लगे कि—

"कन्थां वहसि दुर्बुद्धे गर्दभेनापि दुर्वहाम्।
शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति॥

२० श्लो० ८ स०।

अर्थात्-हे दुर्मति शंकराचार्य! गधे से भी मुश्किल से उठाने योग्य गुदड़ी को तो तैंने कन्धे पर खूब उठा रक्खा है पर भला यह तो बता कि चोटी और जनेऊ से तुझे कौनसा बोझ मालूम होता था जो कि तैंने इन्हें उतार दिया?

मण्डन मिश्र की कुटिलता देख भगवान् शंकराचार्य उसी की बात को पलट कर मुस्कुराते हुये उत्तर देते हैं कि—

कन्थां वहामि दुर्बुद्धे ! त्वत्पित्रापि दुर्भराम् ।
शिखायज्ञोपवीताभ्यां श्रुतेर्भारो भविष्यति ॥
२१ । ८ स० ।

अर्थात् हे खोटी मति वाले ! मण्डनमिश्र ! गुदड़ी तो मैंने इतनी भारी उठा रक्खी है कि जिसे तेरा बाप भी न उठा सके, लेकिन हे मूर्ख ! शिखा सूत्रके धारण करने से मुझे श्रुति (वेद) का भार होगा अर्थात् श्रुति की आज्ञा नहीं कि संन्यासी शिखा सूत्र धारण करे, सो श्रुति के प्रतिकूल चलना यह एक शिर पर प्रत्यवाय का बड़ा भार (१) उठाना

---

१ टि० 'सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ७७ ॥ नारदपरिव्राजकोपनिषद् तृतीयोपदेशः ।

'यज्ञोपवीतं छित्वा ॐ भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं च विसृज्य सन्न्यस्तं मयेति त्रिवारमभिमन्त्रयेत् ॥ संन्यासोपनिषद् २ अ० ६ मं० इति श्रुतिः ॥

तथाच—हृदाकाशे चिदादित्यः सर्वदैव प्रकाशते ।
नास्तमेति न चोदेति कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥
मृता मोहमयी माता जातो ज्ञानमयः सुतः ।
पातकं सूतकं नित्यं कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥

है। इस प्रकार मण्डन का मुखमर्दन कर खण्डन किया।

जिस भगवान् शंकराचार्य की दक्षिण भारत से उठी हुई प्रचण्ड प्रचार रूपी पताका के पवन पूर ने वैदिक धर्म रूपी सूर्य मण्डल के ऊपर मण्डलाते हुए बौद्धधर्मरूपी बादलों के मण्डल को छिन्न भिन्न कर चीन, जापान और वर्मा आदि देशों की तरफ रवाना कर दिया था, जिस स० ध० के प्रचण्ड प्रचारक के लोहे को मण्डन मिश्र जैसे विद्वान् भी मान गये थे और जिनके प्रस्थानत्रयी और ख़ास कर शारीरिक भाष्यकी दहल एवं कर्मठ कर्मण्यता की धाक तब तक संसार के विद्वानों के हृदय में जमी रहेगी जब तक कि पृ. पर राम नाम रहेगा और जब तक भारतभूमि को गङ्गा यमुना की धारायें प्लावित करती रहेंगी। पर हा ! हन्त! आज शोक से कहना पड़ता है कि 'ते हि नो दिवसा गताः" उन्हीं भगवान् शङ्कराचार्य के अनुयायी दश नामधारी साधु प्रायः अकर्मण्य हो 'अहं ब्रह्मास्मि' का पाठ पढ़ कर स्वयं ब्रह्म बन बैठे हैं। "स्वयं ब्रह्म नमस्तुभ्यं नमः केदारकङ्कणम्"।

आनन्द यह है कि द्वापरादि युगों में ब्रह्म नहीं बल्कि ब्रह्म के एक अंशावतार होने पर भी भारत स्वतन्त्रता के प्राङ्गण में खेलता था, लेकिन आज इन ३० लाख स्वयं ब्रह्मों के होते हुये भी देश दीन और दुःखी है। हिन्दू कौम के नौनिहाल पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा के प्रवाह में पतित होकर चोटी और जनेऊको भी तन से धड़ाधड़ जुदा करते चले जारहे हैं।

लेकिन इनके कानमें जूं तक नहीं रेंगती ! वेदान्तका सार्वभौम भ्रातृभाव का उत्पादक ज्ञान किस तरह आलस्य और अकर्मण्यता में परिणत किया जारहा है। लोग तो इन्हें कौम और देश के ऊपर भारस्वरूप समझ बैठे हैं। शास्त्राज्ञा है कि—

ज्ञातृविज्ञेययोरैक्यमविजानन् द्विजोत्तमः ।
न त्यजेदात्मनः सूत्रं ब्राह्मं ब्रह्मविनिर्मितम् ॥

स्मृतिप्रकाश ॥

अर्थात्–द्विजोत्तम का कर्त्तव्य है कि वह जीव ब्रह्म की एकता पूर्ण रीति से जाने वगैर यज्ञोपवीत त्याग, संन्यास न ले। क्योंकि 'सूचनाद् ब्रह्मतत्वस्य ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम्" यह ब्रह्मसूत्र ब्रह्मा ने ब्रह्मज्ञान के ही लिये बनाया है; इसमें सन्देह नहीं कि आज भी ढूंढ़ने पर इस भेष में महात्मा मिल सकते हैं; लेकिन बहुत सों के कारण तो यह गेरुवा बाना दिन प्रतिदिन बदनाम होता चला जारहा है–"नारि मुई गृह सम्पति नासी। मूड़ मुंडाय भये संन्यासी" तुलसीदास जी ने इस प्रकार चित्र खींचा है। सती सीता भी रावण के इसी बानेपर ठगी गई थी।

मूंड मुंडाये तीन गुण, शिर की मिटती खाज। खाने को लड्डू मिलें लोग कहें महाराज ॥

तन में धार गेरुवा सूट, पैरों में बढ़िया फुलबूट।
रहा न सेवकता का रोग स्वामी कहते हैं सब लोग॥

आजीविका मात्रके लिये भेष धारण करना कहां तक ठीक है यह वे लोग स्वयं विचार सकते हैं । शास्त्र कहते हैं—

त्रिदण्डं लिङ्गमाश्रित्य जीवन्ति बहवो द्विजाः ।
न तेषामपवर्गोऽस्ति लिङ्गमात्रोपजीविनाम् ॥

३३ । विष्णु स्मृ० ४ अ० ।

त्रिदण्ड (संन्यास) के बाने के आश्रय बहुत द्विज आजीविका करते हैं-लेकिन ऐसे धर्मध्वजियों को मोक्ष नहीं मिलता क्योंकि-"अन्नार्थं लिङ्गमुद्दिष्टं न मोक्षार्थमिति स्थितिः । १६ चिह्न अन्न के निमित्त कहा है, मोक्ष के लिये नहीं कहा ऐसी मर्यादा है ।

इस लिये उचित तो यह है कि-

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

मनु० ६ । ३६ ।

अर्थात्-विधि पूर्वक वेद पढ़ कर, धर्म पूर्वक पुत्र पैदाकर और यथाशक्ति यज्ञ करके मोक्षधर्म संन्यास में मन लगावे ।

तात्पर्य—इन तीनों बातों से क्रमशः ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण चुका लो तो बाद को संन्यास ले । क्योंकि 'अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः" मनु० ६ । ३५ ! वग़ैर इन तीन ऋणों के चुकाये अधोगति होती है । म०भा० के आदि पर्व के जरत्कारु ऋषि की इसी सम्बन्ध में एक उपदेश पूर्ण कथा आती है ।

त्याग कर्म फलों का होना चाहिये न कि सत्कर्मों का।

जाति को आज ब्रह्मसूत्र प्रणेता व्यास महर्षि और भाष्यकर्त्ता गुरु शङ्कराचार्य जैसे अद्वैतवादियों और कर्मठ कर्म योगियोंकी जरूरत है। अब दुनियाँके लोग समर्थ गुरु रामदास तथा स्वामी रामकृष्ण जैसे परमहंसों और स्वा० विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ जैसे नेताओं की तलाश में हैं। अस्तु,

प्रकृत बात यह है कि शिखासूत्र कर्मकाण्डके साधन होने से ज्ञानकाण्डमें उपयुक्त नहीं, जिससे ४ सहस्र श्रुतियां सम्मिलित न कर ९६ सहस्र श्रुतियों के ही ९६ चप्पे बनाये जाते हैं यह भी आचार्यों का मत है कि—

चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरी।
तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत्॥

गायत्री के २४ अक्षर हैं। वेद ४ हैं। २४ का चतुर्गुणा ९६ होता है, यह भी ९६ चप्पों में हेतु होसक्ता है।

सामवेदीय छान्दोग्य सूत्र परिशिष्ट में लिखा है कि—

तिथिर्वारञ्च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्॥

तिथि १५ वार ७ नक्षत्र २७ तत्व २५ वेद ४ गुण ३ काल ३ मास १२ इन सबका जोड़ ९६ होता है; ब्रह्मपुरुष परमेष्ठी के शरीर में सूत्रात्मा प्राण का ९६ वस्तु रूप राशि चक्र कन्धे से कटि पर्यन्त यज्ञोपवीत के तुल्य पड़ा हुआ है। वे

तिथि वारादि संवत्सर के ही अवान्तर भेद हैं। और संवत्सर रूप राशि चक्र ब्रह्मलोककी परिक्रमा करता है, जैसा कि शास्त्रों में वर्णन भी है-

'यस्मादर्वाक्संवत्सरो अहोभिः परिवर्त्तते तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ।

जिससे नीचे अथवा जिससे वरे संवत्सर द्वादश सूर्यों कर के घूमता है। देवता उस ज्योतियों के ज्योति अमृतरूप आयु अर्थात् ब्रह्म की उपासना करते हैं। सो तिथि वारादि राशि-चक्र का योग ९६ होने से 'ब्रह्मसूत्रं हि परायणम्' ब्रह्मसूत्र भी ९६ ही चप्पे होता है।

(४) सामुद्रिक शास्त्र में पुरुष का परिमाण अपनी अंगुलियों के नाप से ८४ अंगुलि से लेकर १०८ अंगुलियों तक माना गया है। साढ़े तीन हाथ का पुतला की कहावत का अभिप्राय भी ८४ अंगुलियों से ही है। २४ अंगुली का हाथ होता है। ८४ और १०८ का मध्यामान(औसत) ९६ ही होता है, सो पुरुष परिमाण के मध्यमान से यज्ञोपवीत सूत्र भी ९६ ही चप्पे का युक्तियुक्त है।

जिस पुरुष का परिणाह (लम्बाई) और व्याम (चौड़ाई) दोनों हाथों के फैलाने से बगल की जगह खाली रह कर गोल वृत्त बन जाय। सम हो, वह भाग्यशाली होता है, पुराणों में इसीलिये अवतारी शरीरों का वर्णन 'आजानुबाहु, है।

(५) वास्तव में यदि सरसरी तौरपर भी विचार किया

जाय तो यज्ञोपवीत ९६ ही चप्पे का होना चाहिये, जिससे त्रिगुणित करने पर उसकी लम्बाई कटिभाग तक ही पहुँचे, न्यूनाधिक न हो। लिखा है कि–

पृष्ठवंशे च नाभ्याञ्च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥

कात्यायनस्मृ० १।३॥ कर्मप्रदीपे च।

अर्थात् जो कन्धेसे पीठ और नाभिका स्पर्श करता हुआ कटि तक पहुँच जावे, ऐसा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये, न्यूनाधिक न हो। यह परिमाण जभी ठीक उतर सकता है। जब कि ९६ चप्पा सूत हो यदि यह परिमाण पूरा न निकला तो आयुर्हरत्यतिह्रस्व-मतिदीर्घं तपोहरम्॥ स्मृति प्रकाश। दोष भागी बनना पड़ता है। स्मृतिप्रकाश में यज्ञोपवीत के आकार के विषय में भी लिखा है कि सरसों की फ़ली के आकार का यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये,क्योंकि बहुत मोटा यशको नष्ट करता है और बहुत बारीक धनका नाश करता है।

सिद्धार्थफलमानेन धार्यं स्यादुपवीतकम्।
यशोहरमतिस्थूल-मतिसूक्ष्मं धनापहम्॥

प्र०—क्यों जी! बहुत मोटा यज्ञोपवीत यश का नाश करता है और बहुत बारीक धन का, इसका क्या रहस्य है?

उ०—वाह जी! वाह! यह भी कोई रहस्य की बात है। सीधी सी तो बात है, जो रस्सा सा मोटा जनेऊ गले में

डाले रक्खेगा तो लोग उसकी अयोग्यता पर आप हंसी उड़ायेंगे कि कैसा उजड्ड है जिसको जनेऊ बनाना भी नहीं आया तो खुद ही उसका मान घटने से यश नष्ट हो जायगा । और जो बहुत बारीक पहनेगा तो उसकी कारीगरी देख हंसी तो नहीं होगी पर बार २ टूटने से धन का व्यय अधिक अवश्य होगा । इसकी यही फ़िलासफ़ी है ।

इस वास्ते यज्ञोपवीत का आकार ऐसा होना चाहिये जिससे न तो वह बहुत मोटा हो और न बहुत बारीक, बल्कि मध्यमान का हो जैसा लिख आये हैं ।

स्मरण रहे कि जिसके लिये यज्ञोपवीत बनाया जा रहा हो चप्पे भी उसी बालक के हाथ के हों ताकि यज्ञोपवीत न्यूनाधिक न होने पावे ।

९६ चप्पे पर इतना ही लिख कर अब आगे की प्रक्रिया बतलाते हैं—

जब इस प्रकार तीनों चप्पियों को गीली कर फट्कार ले तो उन्हें खोल कर इकट्ठी करके तीन व्याहृतियों से ऊपर बाईं ओर को पेंठ दे-बटा देदे, जिससे वह एक तिसूती डोरी बन जाती है । यह शास्त्रविकल्प है कि चाहे ९६-९६ चप्पे सूत तीन बार जुदा २ गिने और फिर बटा देकर तिसूती डोरी को बनाय, और चाहे तीन सूतों का इकट्ठा ९६ चौआ लेकर बटा देकर तिसूती डोरी बनाय, तात्पर्य तिसूती डोरी बनने से है अनन्तर फिर उस तिसूती डोरीको भी 'सावित्री मन्त्र,(ॐ तत्स-

वितु०)से तिगुनाकर दाहिनी ओर नीचेको एँठ दिया करते हैं, जिससे वह नौ सूती–नौ तार–का एक डोरा बन जाता है। ३ का तिगुना भी ९ ही होता है तो तिसूती डोरी को भी तिगुना कर इकट्ठा बट देने से नौ सूती ही डोरा बनेगा। लो, यहाँ तक यूं समझें कि जनेऊ की आधी इति कर्त्तव्यता अर्थात्–पूर्वार्द्ध समाप्त होगया।

पाठकों को यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि यह कार्रवाई कोई मनगढ़न्त या विज्ञान शून्य है। यह जो कुछ भी विधि लिखी गई है–और लिखी जायगी अक्षरशः शास्त्र के अनुकूल होगी और उसका विज्ञान से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है जो कि आगे चल कर स्पष्ट भी कर दिया जायगा।

पीछे कात्यायन परिशिष्ट में प्रदर्शित यज्ञोपवीत निर्माण विधि के ही अनुसार विधि और भी बहुत से स्मृतिग्रन्थों में उपलब्ध होती है। ग्रन्थ विस्तारभय से दिङ्मात्र उदाहरण देते हैं।

मदन पारिजात में देवलऋषि लिखते हैं कि—

"अब्लिङ्गकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्। अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम्॥ अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नवसूत्रकम्॥ 'यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नवतन्तवः॥

अर्थात्– यज्ञोपवीत के लिये ऊपर लिखी विधि के अनु-

सार नौ तन्तु का डोरा बनावे ।

छन्दोग परिशिष्ट और कात्यायनस्मृति १ अ० २ श्लो० में भी यही लिखा है 'त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्,, भृगु के धर्मशास्त्र में भी यही विधि है ''वामावर्त्तवलितं त्रिगुणं कृत्वा दक्षिणावर्त्तवलितं त्रिगुणं कार्यं स एकस्तन्तुः''

ऊपर के प्रमाण में 'ऊर्ध्व,और अधोवृत, ये शब्द आये हैं, जिनका अर्थ यह है कि ''ऊर्ध्ववृतं-दक्षिणं करमूर्ध्वं कृत्वा वलितमित्यर्थः दोनों हाथ मिला कर ऐंठने से-बटने से-दहिने हाथ की जिस प्रकार ऊपर को गति हो वह'ऊर्ध्ववृत, या ऊपर को ऐंठना है ऊपर को ऐंठे हुए उसी त्रिसूत को फिर तिगुना कर नीचे को ऐंठे ''एवं वामकरमधः कृत्वा वलित मधोवृतमित्यर्थः'' अर्थात्-दोनों हाथ मिला कर ऐंठने से जिस प्रकार बायें हाथ की गति नीचे को हो वह'अधोवृत'या नीचे को ऐंठना कहलाता है। ऐसा करने से नौ सूत का एक डोरा बन जाता है, पहिले ऊपर बांई ओर को ऐंठने और फिर उसके विपरीत नीचे दहिनी ओर को ऐंठने से अभिप्राय यह है कि—बटी हुई डोरी को तिगुना कर यदि फिर उसी तरफ़ बटा जाय तो बट खुल जावेंगे लेकिन विपरीत बटने से बट सुदृढ़ (पुख़्ते) और सुसंश्लिष्ट हो जावेंगे। इसी को क्रमशः बांई ओर ऊपर को ऐंठने से 'वामावर्त्त वलित' और दहिनी ओर नीचे को ऐंठने से 'दक्षिणावर्तवलित, भी कहते हैं जैसे कि ऊपर भृगुशास्त्र के प्रमाण में लिख भी चुके हैं।

प्र०—अच्छा जी भला! यह तो बतलाइये कि इस इतने बड़े गोरखधन्धे झंझट या खटराग का तात्पर्य क्या है? अर्थात् पहले ९६-९६ चप्पे के तीन सूत लो फिर "आपोहिष्ठा" मन्त्रद्वारा जल से फट्कारना अनन्तर उनको मिला कर तीन व्याहृतियों से ऊपर को ऐंठो जिससे तिसूती डोरी बन जाय इन बातों की फ़िलासफ़ी क्या है? इस प्रकार की प्रक्रिया से क्या सूचित होता है?

उ०-सुनो, यज्ञोपवीतकी निर्माणविधि केवल तागा कातने या वट देने मात्र नहीं जिसे तुम खटराग समझ बैठे हो। इस की प्रत्येक प्रक्रिया में रहस्य है। कोई भी भाग प्रयोजन के विना नहीं। ध्यान देकर सुनो, जिस प्रकार त्रिगुणात्मक-तिसूती-डोरी से ही समस्त यज्ञोपवीत की इतिकर्तव्यता पूर्ण होती है इसी प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही सम्बन्ध से समस्त सृष्टिप्रादुर्भाव होता है और उसमें भी सर्व प्रथम प्रकृति के संक्षोभ से जलमयी (१) सृष्टि रची जाती है यही अब्लिङ्गक मन्त्रों से जल द्वारा फट्कारने का तात्पर्य है।

प्रथम तीन सूतों से-तीन ही वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इसके अधिकारी होते हैं यह सूचित होता है। और तीन व्याहृतियों द्वारा ऊपर को ऐंठने से अभिप्राय यह है "धर्मेण गमनमूर्ध्वम्" सां० का० ४४।

नोट १—'अप एव ससर्जादौ" मनु० १।८ और ऋग्वेद १०-८२-६ तै० आ० १-१०-२-७ ऐ० उ० १-१-२ में भी लिखा है कि आदिसृष्टि जलमयी बनी। २-'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः" गी० १४।१८

अर्थात्—धर्म द्वारा भूर्भुवः स्वः से उपलक्षित पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में उत्तरोत्तर गमन होता है। समझे? यह है हमारी तिसूती-त्रिवेणी! जिसके अन्दर कि गङ्गा, यमुना सरस्वती की अविच्छिन्न तीन धाराओं की भांति तीन सूत यज्ञोपवीत रूपी तीर्थराज के माहात्म्य को बढ़ा रहे हैं।

प्र०-भगवन्! यहां तक तो मैं ठीक २ समझ गया, लेकिन फिर उस तिसूती डोरी को भी तिगुना कर नीचे को पेंठ कर नौ तार का एक डोरा बनाने को कहते हो, इसका क्या रहस्य है? शास्त्र विधि तो सुन ली पर कृपया विज्ञान भी समझाइये

उ०-प्रिय! बड़ी प्रसन्नता है कि तुम आधुनिक नई रोशनी के रुस्तम, चतुश्चक्षु ग्रेजुएटों की भांति दुराग्रही ग्रेजुएट नहीं। तुम्हारे हृदयमें अपने धर्म के लिये सन्मान है। समझाने से समझ जाते हो। स्कूल और क़ालेजों वाले धर्म के नाम पर हाथ फैला २ कर लोगों से चन्दा तो मांगते फिरते हैं पर शोक से कहना पड़ता है कि पब्लिक की उस पसीने की गाढ़ी कमाई के द्रव्य का ये लोग किस प्रकार दुरुपयोग कर रहे हैं। जिस धर्म शिक्षा के नाम से धन मांगा जाता है और लोग देते हैं पूछने पर उसके लिये फिर इनके फण्ड में गुञ्जायश ही नहीं होती। मुसलमानी और क्रिश्चियनी भाषाओं के पढ़ाने वालों पर बेशक ख़ूब ख़र्च हो लेकिन योग्य धर्मशिक्षकों की गुञ्जायश नहीं। सिर्फ़ दिखाने के लिये पहिले तो शुरू में नहीं तो १०। २० रु० मासिक पर एक मामूली सा पण्डित, सो भी

बड़ी कृपा करके रख तो लेते हैं लेकिन जिसका न प्रभाव लड़कों पर पड़ता है और न उस दुरङ्गी पार्टी में ही मान होता है। नहीं तो इस प्रकार धर्म की धज्जियां कभी न उड़तीं।

भला ! तुम्हारे जैसे होनहार सुशील बालक सुथरों की भान्ति दाढ़ी मूछ मुड़ा कर जन फैशन क्यों बनाने लगे थे ? यज्ञोपवीत और शिखा से हीन क्यों होते ? मातृभाषा हिन्दी और संस्कृत से क्यों न प्रेम करते ?

प्र०—पण्डित जी ! हम तो देखते हैं जो सोसायटियें बनी ही धर्मप्रचारके लिये हैं उनमें भी तो यही रोग है। दफ़तरका सारा हिसाब किताब उनके अख़बार ट्रैक्ट, रेजोल्यूशन वग़ैरह सारा कारोबार मुसलमानी और क्रिश्चियनी में ही देखा जाता है और इस पर न जाने उन्हें गर्व भी हो ?

उ०-यही तो बातहै कि ऐसी सोसायटियोंमें संस्कृतके प्रौढ़ पण्डित मान न होने से कम मिलते हैं, और उर्दू व अंग्रेजी मय जगत् होने से उनके प्रेस में धार्मिक विषयों पर मार्मिक विवेचना भी नहीं हो पाती। सोसायटी में जो भाषा वर्ती जाती है—पण्डितों की जो भाषा है सोसायटी उसे व्यावहारिक नहीं बनाती। जिससे "भई गति सांप छछूंदर केरी" वाली बात बन जाती है।

प्र०—भगवन् ! जब कि उर्दू और अंग्रेजी दोनों म्लेच्छ भाषायें हैं, ग़ैर हिन्दुओं और ग़ैर हिन्दुस्तानियों की है और जब कि आप स्वयं 'न पठेद् यावनी भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि"

कह कर उनका पढ़न पाठन भी धर्म विरुद्ध बतलाते हैं तो आप ही लोग क्यों स्कूल और क़ालेजों के लिये पब्लिक से हज़ारों और लाखों रुपयों की अपील करते हैं ? और क्यों उनके द्वारा अपनी सन्तानों में इन (भाषाओं) का प्रचार करते हैं ?

उ०-ओ हो ! तुम भी हमारा स्कूल कालेज खोलने का असली अभिप्राय नहीं समझे! यह तो ठीक है कि मौजूदा स्कूल कालेज प्राचीन गुरुकुल, ऋषिकुलों की भान्ति विशुद्ध धार्मिक विद्यापीठ नहीं हैं। आयुष्मन् ! तुम जानते ही हो कि राजसत्ता का जमाने पर पूरा प्रभाव पड़ता है। अपने बच्चों के दिल और दिमाग़ पर मगरबी तालीम के बुखार को बेढङ्गी रफ़्तार से बढ़ते देख हमें उसके उतारने की फ़िकर पड़ी। धर्मोपदेश की कुनैन की कड़वी गोली से तो यह नादान बच्चे मुंह मीटते हैं। निदान, बिवश हो अग्रेजी और उरदू फारसी के बताशे के अन्दर बन्द कर खिलानी पड़ी। पर दुःख तो यह है कि लोग कुनैन की तो परवा ही नहीं करते और बताशे पर बताशा खिलाते चले जारहे हैं, बुखार कैसे उतरे जिस किसी भी धार्मिक स्कूल में देखो, अंग्रेजी, उर्दू के रिजल्टों पर ही ध्यान है। मानो धर्मशिक्षा से इनका और इस स्कूल का कोई सम्बन्ध ही नही। इसी को कहते हैं "पुरोडाश चह रासभ खावा"

प्र०-पूज्यचरण ! आप के विचार से स्कूल कालेजों द्वारा धर्म प्रचार का ठोस काम कब हो सकता है ?

उ०—जब कि जिस लिये वह स्कूल खोला गया है उस बात को प्रधानता दो जाय। बेशक, प्रबन्ध (discipline) सम्बन्धी कार्यों में हेडमास्टर, हेडमास्टर है। लेकिन धार्मिक दृष्टिकोण से धर्मशिक्षक सर्वोपरि और सर्वमान्य है। इस अंश में उसकी आज्ञा समस्त स्टाफ व विद्यार्थिवर्ग को प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों में हेडमास्टर की आज्ञा की भान्ति, शिरोधार्य होनी चाहिये। हम देखते हैं कि स्कूल में इङ्गलिश गणित, भूगोल, ड्राइङ्ग, व साइन्स वगैरह २ प्रत्येक विषय के पढ़ाने के लिये कमरे स्वतन्त्र २ होते हैं, लेकिन जिस धर्म शिक्षा के नाम पर जमा किये हज़ारों और लाखों रुपयों की लागत से स्कूल की बिल्डिङ्ग बनती है उसके लिये ढूंढने पर भी इस लोकमें जगह नहीं मिलती। मास्टर लोग जिस लड़के को किसी भी पीरियड में गैरहाजिर न कर सकते हों उसे धर्मशिक्षा के पीरियड में गैरहाज़िर रखना तो उनके बायें हाथ का खेल है। टायमटेबिल में भी यही हाल है। ज़रूरत पड़ी तो ख़ास कर स्कूल के हेडमास्टर ही धर्मशिक्षा के टायम में भी जब चाहे अंग्रेजी उर्दू हा धर दबाते हैं। कहांतक लिखें धर्म शिक्षाका मज़ाक उड़ाया जाता है और बच्चों के हृदय में रही सही श्रद्धा का भी जिस प्रकार खून होता रहता है, यदि इसका नग्न चित्र खींचा जाय तो एक स्वतन्त्र ही ग्रन्थ बन जायगा। यही दशा कालिजों में भी है।

सभा सोसाइटियोंमें भी साल पीछे मेज कुर्सी लगा, आ-

लीशान शामियाने तान, रङ्ग बिरङ्गी झण्डियाँ और चित्र विचित्र मोटों से सभामण्डप को बड़ी सजधज से सजा वार्षिकोत्सवों के नाम पर जो दो तीन दिन थियेटर खेला जाता है उस से भी यदि कुछ उम्मेद हो सकती है तो सिर्फ़ उतनी ही कि " चार दिनकी चाँदनी फिर अन्धेरी रात" अस्तु अब तुम प्रकृत प्रश्न का उत्तर सुनो।

सावित्री से दुबारा तिगुना करने से प्रयोजन, त्रिगुणात्मक प्रकृति के सत्व रज, और तम,इन तीन गुणों द्वारा सृष्टि के सर्व प्रथम क्रमशः विष्णुः, ब्रह्मा और शिव इन तीनों देवताओं की उत्पत्ति से है और यज्ञोपवीत की उत्पत्ति भी इन्हीं द्वारा हुई, जैसे कि सामवेदीय छान्दोग्य सूत्र परिशिष्ट में लिखा भी है—

ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम्।
कृतो ग्रन्थिस्त्रिनेत्रेण सावित्र्या चाभिमन्त्रितम्॥१

यह इसमें आधिदैविक भाव है और आधिभौतिक पक्ष में यह तात्पर्य है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन

नोट—१ इस पद्य से यह भी आशय निकालते हैं कि 'ब्रह्मजज्ञानम्' इत्यादि मन्त्र से सूत्र को ठीक करे 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इत्यादि मन्त्र से तिहरा करे 'आवोराजानम्' अथवा "त्र्यम्बकं यजामहे" इत्यादि मन्त्र से ग्रन्थि देवे और 'तत्सवितुः, इत्यादि मन्त्र से अभिमन्त्रित कर धारण करे।

आश्रमों तक धारण करे। इन तीन आश्रमों की पूर्त्ति का प्रतिज्ञा सूत्र है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इन तीन ही वर्णों से इसका सम्बन्ध है।

चतुर्थ (शूद्र) वर्ण और चतुर्थ (संन्यास) आश्रम से इससे कोई तअल्लुक़ नहीं नीचे को ऐंठने से यह अभिप्राय है कि–"गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण" सां० का० ४४। अर्थात् अधर्म से अधोगति होती है। 'जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः। १४।१८। गीता में भी यही बात कही है।

नौतार का एक डोरा बनाने से तात्पर्य यज्ञोपवीत के नौ अधिष्ठातृ देवताओं से है।

'यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम्।
देवतास्तत्र प्रवक्ष्यामि आनुपूर्वेण याः स्मृताः॥
ओङ्कारो[१]ऽग्निश्च[२] नागश्च[३] सोमः[४] पितृ[५]प्रजापती[६]।
वायुः[७] सूर्यश्च[८] सर्वश्च[९] तन्तुदेवा अमी नव॥
ओङ्कारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च॥
सर्वे देवास्तु नवम इत्येतास्तन्तुदेवताः॥

सामवेदीय छान्दोग्यसूत्र परिशिष्ट।

अर्थात्-नवतन्तुओं के ये नव अधिष्ठातृ देवता होते हैं जिनके कि गुण और नाम तन्तुक्रम से निम्नलिखित प्रकार से हैं।

१ म, तन्तु का अधिष्ठातृदेव ओंकार(ब्रह्म)है,जिसका गुण ब्रह्मज्ञान है।
२ य, " " " अग्नि " " " तेज है।
३ य, " " " अनन्त " " " धैर्य है।
४ र्थ, " " " चन्द्रदेव सर्वप्रियता,सर्वाल्हादकत्व है
५ म, " " " पितृगण " " स्नेहशीलता है
६ ष्ठ, " " " प्रजापति " " प्रजापालन है।
७ म, " " " वायु " " शुचित्व है।
८ म, " " " सूर्य " " अप्रतिम प्रताप है।

और नवम तन्तु में सर्व देववास है। जो द्विज इस प्रकार सर्व गुणागार यज्ञोपवीत को धारण करता है, उसमें इन पूर्वोक्त सब गुणों का वास होता है। नवीन यज्ञोपवीत के पहनने से पूर्व उसके प्रत्येक तन्तु में यथाक्रम इन देवताओं का आवाहन और पूजन करना चाहिये। इस प्रकार यहां तक यज्ञोपवीत निर्माण विधि का पूर्वार्द्ध और उसका विज्ञान-समाप्त समझिये, अब आगे की भी सुनिये।

उस नौतार के डोरे को "पुनस्त्रिवृतं कृत्वा" फिर तिलड़ा कर अर्थात् तीन आगे बना 'प्रणवेन ग्रन्थि कृत्वा' ओंकार से गांठ देदे। इसे ही 'ब्रह्मग्रन्थि, कहते हैं। कात्यायन परिशिष्ट की ही भांति छान्दोग्य परिशिष्ट और कात्यायन स्मृति अ० १ श्लो० २ में भी लिखा है कि—

त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते।

नौसूती डोरे को 'त्रिवृत, तिलड़ा कर गांठ दे दे।

भृगु ऋषि भी यही कहते हैं 'एवं त्रितन्तुकमित्यर्थः, इस प्रकार नौ २ सूत के तीन सूत एक यज्ञोपवीत में हो जावेंगे (१) देवल ऋषि कहते हैं कि गांठ लगाते समय—

त्रिरावेष्टय दृढं बद्ध्वा ब्रह्मविष्णुशिवान्नमेत्॥

ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों ग्रन्थि देवताओं को नमस्कार करे। ब्रह्मग्रन्थि के साथ ही १-३ या पाँच छोटी २ गाँठें लगाई जातीं हैं। उनके भी ऊपर यज्ञसूत्र के दोनों सिरों में से दो एक में और एक दूसरे में इस प्रकार तीन गांठें लगाई जातीं हैं। और अन्तमें इन दोनों (सिरों) को मिल कर एक सूत्र करके दृढ़ता के लिये एक ग्रन्थि देदिया करते हैं जिसे प्रणव कहते हैं। लीजिये, यज्ञोपवीत बन गया।

प्र०—भगवन्! कुछ और भी प्रष्टव्य है, आज्ञा हो तो निवेदन करूं?

उ०—हाँ, हाँ, बड़ी प्रसन्नता से पूछो प्र० उस नौसूती डोरे

नोट—१ ऊर्ध्वन्तु त्रिवृतं सूत्रं सधवानिर्मितं शनैः। तन्तुत्रयमधोवृत्तं यज्ञसूत्रं विदुर्बुधाः॥१॥ त्रिगुणं तद्ग्रन्थियुतं वेद प्रवरसम्मितम्। शिरोधरान्नाभिमध्यात् पृष्ठार्द्धपरिमाणकम्॥२॥ यजुर्विदां नाभिमितं सामगानामयं विधिः। वामस्कन्धेन विधृतं यज्ञ सूत्रं बलप्रदम्॥३॥ कल्किपुराण ४ अ०॥

को त्रिवृत = तिलड़ा करने का, फिर ब्रह्मग्रन्थि लगाने और तदु-सार १-३-१ छोटी २ गांठें लगाने का और तदुपरान्त एक सिरे में दो और दूसरे पर एक गांठ लगा कर दोनों को मिला एक बना कर फिर एक गाँठ लगाने का अभिप्राय विज्ञान या रहस्य क्या है ? कृपया विस्तार पूर्वक समझाइये ?

उ०–उस नवसूत्रात्मक एक सूत्र को त्रिवृत् (तिलड़ा) कर यज्ञोपवीत की इतिकर्तव्यता से उपनयन संस्कार में आ-चार्य बटु (ब्रह्मचारी के प्रति हमने तुम्हें उपनीत कर आगे चल कर वेदों में जो कुछ भी उस सत् चित्, आनन्द घन एक मात्र पर ब्रह्मसे प्रसूत सृष्टि प्रक्रिया आदि के विषय में पढ़ाना है वह अनुकृतिरूपेण नक्शे में पहाड़ नदी, नगर आ-दि के निर्देशों की भान्ति यज्ञोपवीत की निर्माणप्रक्रिया से समझा दिया है–मानों, यह सूचित करता है। ब्रह्मसूत्र उसपर ब्रह्म से जिसके विषय में वेदों में वर्णन मिलता है कि "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' बृहदा० उ० १।४।१०। एक ब्रह्म ही सब से पहिले था सृष्टिनिर्माण प्रक्रिया के प्रदर्शन का मूल सूत्र है। छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में बाल ब्रह्मचारी श्वेतकेतु और उसके पिता का सृष्टिप्रक्रिया के विषय में सं-वाद है। संवाद के आरम्भ ही में श्वेतकेतु के पिता ने कहा है कि "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" अरे! श्वेतकेतो ! इस जगत् के आरम्भ में जहां तहां सब एक ही और नित्य पर ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। जो

असत् (अर्थात् नहीं है) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है अतएव, आदि में सर्वत्र सत् ही व्याप्त था। इसके बाद अ-नेक अर्थात् विविध होने की इच्छा हुई और उससे क्रमशः सूक्ष्म तेज (अग्नि) आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) की उत्पत्ति हुई। पश्चात् इन तीनों तत्वों में जीवरूप से परब्रह्म का प्रवेश होने पर उनके त्रिवृत्करण से जगत् की अनेकनाम रूपात्मक वस्तुएं निर्मित हुईं॥ स्थूल अग्नि, सूर्य, च-न्द्रमा या विद्युल्लता की ज्योति में जो लाल (लोहित) रंग है वह सूक्ष्म तेजोरूपी मूलतत्व का परिणाम है जो सफेद (शुक्ल) है वह सूक्ष्म अप् तत्व का परिणाम है और जो कृष्ण (काला) रंग है वह सूक्ष्म पृथ्वी तत्व का परिणाम है तात्पर्य सर्वत्र ये ही तीन तत्व ओत प्रोत हैं उपरोक्त चारों उदाहरण केवल तेज के ही त्रिवृत्करण के दिये हैं। तेज का उदाहरण उपलक्षणार्थ है। इसी प्रकार अप् और अन्न तत्वों के भी उदाहरण देखने चाहिये। क्योंकि मूलश्रुति में ही कहा है कि—

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति,,

अर्थात्—उपरोक्त तीनों तत्वों में से जिस प्रकार एक २ के तीन ३ भेद होते हैं वह तुम ध्यान देकर सुनो, और तेज

का त्रिवृत्करण कर दिखा भी दिया इसी प्रकार मनुष्य जिस अन्न का सेवन करता है उसमें सूक्ष्म तेज सूक्ष्म आप और सूक्ष्म अन्न (पृथ्वी), ये ही तीन तत्व होते हैं। जैसे दही को मथने से मक्खन ऊपर आ जाता है, वैसे ही उक्त तीन सूक्ष्म तत्त्वों से बना हुआ अन्न जब पेट में जाता है तब उनमें से तेज तत्त्व के कारण मनुष्य के शरीर में स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम जिन्हें क्रमशः अस्थि, मज्जा और वाणी कहते हैं उत्पन्न हुआ करते हैं, इसी प्रकार आप अर्थात् जल तत्त्व से मूत्र, रक्त और प्राण, तथा अन्न अर्थात् पृथ्वी तत्त्व से पुरीष मांस और मन ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् की यही पद्धति वेदान्तसूत्र "संज्ञा मूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्" २।४ ३०। में भी कही गई है।

तात्पर्य—तेज,आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) इन्हीं तीन सूक्ष्म मूल तत्त्वों के मिश्रण से अर्थात् 'त्रिवृत्करण' से सब विविध सृष्टि बनी है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ४,५ में भी कहा है कि—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः,,

अर्थात् लाल (तेजोरूप) सफ़ेद (जल रूप) और काले (पृथ्वी रूप) रंगों की (अर्थात् तीन तत्वों की) एक अजा

(बकरी) से नाम-रूपात्मक प्रजा (सृष्टि) उत्पन्न हुई।

वेदान्तियों के पञ्च महाभूतों के 'पञ्चीकरण' का मूल भी उपनिषद् प्रतिपादित 'त्रिवृत्करण' ही है। अस्तु

अब ज़रा आप श्रुतिप्रतिपादित सृष्टि प्रक्रम के इसी त्रि-वृत्करण' के विज्ञान को यज्ञोपवीत के त्रिवृतं कृत्वा' त्रिवृत्कर-ण (तिलड़ा करने) के साथ भी मिलाइये। पूर्ण निश्चय हो जायगा कि वेद प्रतिपाद्य सृष्टिप्रक्रम के गम्भीर सिद्धान्त को यज्ञोपवीत की इस त्रिवृत् प्रक्रिया द्वारा किस खूबी और आ-सानी से समझाया गया है। जिस प्रकार लोहित, शुक्ल और कृष्ण भेदों से तीन २ भेदों वाले तेज, अप और अन्न इन तीन तत्वों के त्रिवृत्करण से सृष्टि बनती है ठीक इसी प्रकार तीन २ सूतों वाले तीन प्रधान सूतों से बने इस नौ तार के डोरे के भी त्रिवृत्करण (तिलड़ा करने) से ही यज्ञोपवीत बनता है।

जो लोग उद्धृत उपरितन उपनिषद् वाक्यों में शुक्ल लो-हित और कृष्ण शब्दों से उपलक्षित प्रकृति के क्रमशः सत्व, रजस् और तमस् गुण अर्थ करते हैं उनके पक्षमें इस प्रकार समन्वय होगा कि–वेदों का सिद्धान्त है कि ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है उसी के कारण जीवित या अवस्थित रहता है और अन्तमें फिर उसी (ब्रह्म) में लीन होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि–

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जा-

तानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति…तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म,,

अर्थात् जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है, जिसके कारण जीवित रहता है और अन्त में यह सब जिसमें विलीन होता है वह ब्रह्म है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है और वही उसका उपादान कारण है; अर्थात्–भगवच्छङ्कराचार्य अभिमत 'अभिन्ननिमित्तोपादानता' श्रुतिसिद्ध है।

एक ही ब्रह्म से त्रिगुण जगत्–नाम रूप–का प्रपञ्च होता है और अन्तमें फिर वही ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। वैदिक सिद्धान्तके अनुसार एक ही ब्रह्म का सूत्र (सिलसिला) समस्त संसारमें फैला हुआ है,और अन्तमें सबका ब्रह्ममें ही लय होता है अब ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) रचना पर ध्यान दीजिये।

एक ही सूत्र से इसकी रचना आरम्भ होती है। एक सूत्र से इसके तीन सूत्र (तीन लपेट-तीन लड़ें) बनाये जाते हैं, और अन्तमें ब्रह्मग्रन्थि पर समाप्ति होती है। जिस प्रकार वैदिक सिद्धान्तमें एक (ब्रह्म) से तीन (सत्व, रजः तमः) और तीन से फिर अन्त प्रलय) में एक (ब्रह्म) अवशिष्ट रहता है, इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी एक (सूत्र) से तीन (लपेट) बन कर अन्तमें ब्रह्म(ग्रन्थि) में समाप्त होता है। जगत् की उत्पत्ति से पूर्व एक (एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म) ही है और प्रलय के बाद भी वही हैं। संसारदशा या व्यवहारदशा में

त्रिगुणमयी प्रकृति का चक्कर है। यही दशा इस ब्रह्मसूत्र की है। आरम्भ में एक सूत्र और अन्त में भी एक मिल कर एक ही (ब्रह्म) ग्रन्थि और बीच में तीन तारोंका चक्कर है।

उस नव सूत्रात्मक डोरे को त्रिवृत् (तिलड़ा) करने से यह भी अभिप्राय है कि-

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति।

तै० सं० ६, ३, १०, ५।

ब्राह्मण शब्द यहां द्विज का उपलक्षक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनोंके शिर पर जन्मसे ही देवऋण, ऋषि और पितृऋण इन तीन ऋणोंका गट्ठर लदा रहता है प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार बाप का कर्ज़ मिआद गुज़र जाने का सबब न बतला कर बेटे या नाती को भी चुकाना पड़ता था और किसी का कर्ज़ चुकाने से पहिले ही मर जाने में बड़ी दुर्गति मानी जाती थी। उदाहरण स्वरूप महाभारत (आ० प० अ० १३) में एक कथा है कि-जरत्कारु ऋषि ऐसा न करते हुये, विवाह न करनेसे पहलेही उग्र तपश्चर्या करने लगा तब सन्तानक्षय के कारण उसके यायावर नामक पितर आकाश में लटकते हुए दीख पड़े। इस लिये धर्मशास्त्रकार कहते हैं कि—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः। मनु० ६।३५

उपरोक्त तीनों ऋणों को चुकाकर ही द्विजाति चतुर्थ आश्रम में क़दम रक्खे, अन्यथा अधोगति होती है।

इन तीनों ऋणों का सूचक ही यज्ञोपवीत का यह त्रिवृत्करण है। उनको चुकाया कैसे जाता है? इसके लिये भगवान् मनु कहते हैं—

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्। ६।३६

अर्थात् विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर धर्मपूर्वक सन्तान पैदा कर तथा यथाशक्ति यज्ञों को करे तो वेद वचन "एष वा अनृणो यः पुत्री, यज्वा, ब्रह्मचारिवासीति" तै० सं० ६-३-१०-५ के अनुसार वह व्यक्ति उऋण हो जायगा।

महाकवि कालिदास ने भी अपने रघुवंश महाकाव्य में सूर्यवंशी पराक्रमी राजाओं का वर्णन इसी प्रकार किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥१-८

पहला ऋण ऋषिऋण है, उसे अविप्लुत ब्रह्मचर्यपूर्वक वेद पढ़कर और संसार में उनका प्रचार कर चुकाना चाहिये।

दूसरा ऋण देवऋण है, उसे यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा चुकाना चाहिये।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ॥ गी०

अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ के सहित प्रजा को रचकर कहा, कि तुम लोग यज्ञों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करो। यज्ञ से प्रसन्न हुये देवता "इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः" तुम्हें भी तुम्हारे प्रिय भोग देंगे यज्ञोंसे अपना ही नहीं बल्कि समस्त जगत् का कल्याण होता है। प्राचीन भारत में जब यज्ञ, यागों का प्रचार था तो उन के द्वारा जो वृष्टि होती थी, वह अन्न में पवित्रता भर देती थी नदियों के जल मधुर और रोगापहारक हो जाया करते थे। उस अन्न जल को ग्रहण करने वाले भारतीय हृष्ट, पुष्ट, दीर्घायु, धैर्यशाली और बुद्धिमान् होते थे। उस जमाने के मुर्दों के चेहरों पर जो लाली रहती थी वह आज के जवानों के चेहरों पर नज़र नहीं आती। आज कल के पुरुष दुर्बल, कामी, क्रोधी, अधीर, मूर्ख, स्वल्पायु और रोगी बन बैठे हैं। जवानी में भी बुढ़ापा धारण किये हुये हैं। आलसियों और हठधर्मियों से भारत भरता चला जा रहा है। आज भारत में वसिष्ठ का तपोवन नहीं दिखाई देता, यज्ञों का प्रचार नहीं, जिससे 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' पवित्र वृष्टि होती और यह ऋषियों का देश हो अध्यात्मप्रसाद को प्राप्त करता। मनु महाराज कहते हैं– 'दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्त्तीदं चराचरम्' ३।७५। देवकर्म (यज्ञ) करने वाला मनुष्य इस समस्त चराचर जगत् का

पालन करता है। वेदों में भी 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' यजु० २३। ६२। कहा गया है कि यदि यज्ञ न हों तो विश्वपति का यह ब्रह्माण्ड रूपी चर्खा क्षण भर में ही ढीला पड़ जाय। तस्मात् शास्त्र कहते हैं कि "स्वाध्याये नित्ययुक्तःस्याद् दैवे चैवेह कर्मणि" मनु० ३। ७५। वेदपाठ और देवकर्म में नित्य लगा रहे।

तीसरा ऋण पितृऋण है। धर्मपूर्वक दारसंग्रह करके उसमें शुभ सन्तान पैदा करो, ताकि विश्वपति परमात्मा का सृष्टिचक्र अनवच्छिन्न रूप से चलता रहे। इस प्रकार इन तीनों ऋणों के चुका देने बाद बेशक 'मनो मोक्षे निवेशयेत्' मोक्ष पथ का पथिक बन जाय। महाभारत में विदुर जी ने महाराज धृतराष्ट्र से भी यही कहा है कि—

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वां वृत्तिञ्च तेभ्योऽनुविधाय कांचित्। स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥

म० भा० उ० प० ३६। ३९।

पुत्रों को ऋणरहित कर उनके लिये थोड़ी बहुत आजीविका का प्रबन्ध कर, यदि कन्यायें हों तो उन्हें उचित घरों में प्रदान कर मनुष्य का कर्तव्य है कि फिर वह गृहस्थाश्रम छोड़े उपर्युक्त तीन ऋणों के चुकाये बगैर संन्यास लेने पर लिखा है कि—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ।

मनु० ३ । ३७ ।

जन्म से ही पाये हुये कर्ज़ को बेबाक़ न करने के कारण उसकी अधोगति होती है। इस लिये जनेऊ के इन तीन आगों (लड़ों) से यह भलीभाँति स्मरण रखना चाहिये कि बिना इन ऋणों के चुकाये मेरा भवसागर से निस्तार नहीं।

यज्ञोपवीत की-त्रिवलित, त्रिगुणित और त्रिवृत ये तीन अवस्थायें होती हैं, जिसे क्रमशः तीन ही वर्ण पहरें वे भी तीन ही आश्रमों तक और तिससे तीन ऋण चुकावें, यह ध्वनित होता है। चतुर्थ वर्ण (शूद्र) और चतुर्थ आश्रम (संन्यास) इससे वरी है।

वेद के सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण विराट् पुरुष परमात्मा के क्रमशः मुख, बाहु और जंघाओं से पैदा हुये हैं। यज्ञोपवीत पहनने के प्रकरण में लिखा है कि कमर से नीचे यज्ञोपवीत न जाना चाहिये। शरीर में कमर तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण समाप्त होचुके। यज्ञोपवीत भी इन्हीं के साथ समाप्त हो चुका। जहां तक द्विज वर्ण की सीमा है, वहीं तक यज्ञोपवीत की भी सीमा है। कमर से नीचे शूद्रों की सीमा है, वहां इसका प्रवेश निषिद्ध है 'अधो नाभेर्न धार्यं तत्कथंचन"।

जो लोग सब वर्णों को यज्ञोपवीत पहनाने के शौक़ीन हैं, उन्हें चाहिये कि तीन ही वर्णों के अधिकार सूचक तीन तार न बना कर अपने यज्ञोपवीतों में कम से कम चार-चार तार अवश्य बनवाया करें और उन्हें शरई पाजामे की तरह टखनों तक नीचा भी किया करें ।

व्रतबन्ध के दिन द्विज बालक अपने को "एष बहुत बड़े व्रत के बन्धन में डालता है। दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति" अर्थात् ब्रह्मचर्य का ग्रहण करना एक 'दीर्घ सूत्र' (बहुकालव्यापी यज्ञ) का ग्रहण करना है। वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले द्विज का जीवन यज्ञमय है। उसकी दिनचर्या, रात्रिचर्या जो वर्णाश्रम धर्म के अनुसार बनती है उसी दीर्घ सत्र का अङ्ग है। ब्रह्मचर्य इसकी पहिली सीढ़ी है, गृहस्थाश्रम दूसरी और वानप्रस्थ तीसरी। संन्यासका आरम्भ होते ही यह दीर्घसत्र जिसका ग्रहण ब्रह्मचर्य के दिन किया गया था-समाप्त होजाता है ।

जिन तीन आश्रमों की सूचना देने के लिये तीन तार वाला यज्ञोपवीत धारण किया था जिस आश्रमत्रय की पूर्त्ति करने की प्रतिज्ञा में यह सूत्रत्रय धारण किया गया था-उन आश्रमों के बाद, जोकि उसी दीर्घसत्र के अङ्ग हैं, प्रतिज्ञा पूरी होने पर वह उतार दिया जाता है। अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाने के बाद मुसाफ़िर अपना टिकट देकर स्टेशन से बाहर होजाता है ।

पूर्वोक्त तीनों ऋण भी इन तीनों आश्रमों में पूर्ण हो जाते हैं। इनसे पार पाकर-तीन ऋण बन्धनों से मुक्त होकर-उनके सूचक तीन तार वाले—यज्ञोपवीत से भी अपने को मुक्त कर लेता है।

इस प्रकार त्रिवलित, त्रिगुणित, त्रिवृत इन तीन अवस्थाओं के बाद 'ब्रह्मग्रन्थि' लगाने का अभिप्राय यह है कि उस जलमयी सृष्टि में सर्व प्रथम—

'तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।

मनु० १।६

सर्वलोकपितामह ब्रह्मा पैदा हुये, और उन्होंने ही फिर इस विश्व की रचना की। सृष्टि के वे ही मूल पुरुष हैं। इस ज्ञान के बने रहने के लिये मूलाधार ग्रन्थि का नाम 'ब्रह्मग्रन्थि' है।

शेष ब्रह्मग्रन्थि के आगे जो १-३ या ५ छोटी २ गांठें लगाई जाती हैं उनका तात्पर्य-वंशपरम्परा का ज्ञान है।

ब्रह्मा जी के आगे अनेक ऋषि गोत्र प्रवर्तक हुये हैं, कोई ब्रह्मा जी के एक पीढ़ी आगे हुये हैं-जैसे वसिष्ठादि कोई तीन पीढ़ीके पश्चात् गोत्र चलाने में प्रवृत्त हुये हैं और कोई अधिक से अधिक पांच पीढ़ी में। जो वंश ब्रह्माजी की एक पीढ़ी से चले थे वे आज तक एक ग्रन्थि लगाते हैं इसी प्रकार तीन पीढ़ी वाले तीन और पांचवीं पीढ़ी से प्रवृत्त होने वाले पाँच ग्रन्थि लगाते हैं। लेकिन इस विषय में मत भेद भी है। कुछ लोगों का मत है कि अनेक वंश ब्रह्मा जी की शतशः पीढ़ियों

के पश्चात् भी चले हैं। तब १-३-५ छोटी २ ग्रन्थियों का प्रयोजन प्रवर है। जिस ऋषि ने गोत्र चलाया है उसके जो सहायक हुये वे प्रवर कहलाये। प्रवर होने का नियम यह था कि १-३-५ से अधिक न हों। अतएव ये छोटी २ गांठें प्रवरों के ज्ञानार्थ लगाई जाती हैं। अस्तु जो कुछ भी हो परन्तु दोनों का प्रयोजन मिलता जुलता है।

स्मरण रहे कि ग्रन्थिबन्धन के समय जिसके लिये वह यज्ञसूत्र बनाया जा रहा हो उसके गोत्र तथा प्रवर का भी ध्यान रखना चाहिये ताकि तदनुसार ही ग्रन्थि दी जाय।

संकीर्ण (शूद्र) जातियों के गोत्र प्रवर का पता न होने से उन्हें यज्ञोपवीत नहीं दिया जाता। स्त्रियों का भी स्वतंत्र गोत्र नहीं होता। विवाह होने पर पति का ही गोत्र उसका भी गोत्र गिना जाता है।

'स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे" सप्तपदी में स्त्री का पिछला गोत्र सम्बन्ध छूट जाता है, इसलिये कन्याओं का विवाह संस्कार ही उपनयन संस्कार के स्थानापन्न है। यह सब कुछ हम पूर्व किरण में लिख आये हैं।

इसके बाद दो एक और एक दूसरे सिरे पर ग्रन्थि लगा कर फिर दोनों सिरों को मिला कर ग्रन्थि देने का तात्पर्य यह है कि काम से धर्म और अर्थ को दुगुना करना चाहिये। इतना काम न बढ़ जावे जो धर्म अर्थ को आक्रान्त कर लेवे। धर्म और अर्थ काम से अधिक हों तो कोई चिन्ता नहीं,

क्योंकि उनसे सुख की अधिकता ही होगी। और आखिर उन सब (त्रिवर्ग) का मोक्ष में पर्य्यवसान हो। इस प्रकार पुरुषार्थचतुष्टय का सम्पादन कर आवागमन की भंवर से निकल परम पिता की गोद में पहुँच विश्राम करे। यही मनुष्य जन्म का परमलाभ है। इसी लिये इस अन्तिम ग्रन्थि को 'प्रणव' भी कहते हैं। इस प्रकार यहांतक हमने तुम्हें ज्ञान विज्ञान संयुत शास्त्र प्रमाण संवलित यज्ञोपवीत-निर्माण-विधि भली भान्ति समझा दी। अब बताओ, और क्या पूछना चाहते हो?

प्र०-भगवन् ! यज्ञोपवीत बनाने की विधि तो मुझे आपके परम अनुग्रह से भली प्रकार साङ्गोपाङ्ग विदित हो गई। अब कृपया यह भी बतलाइये कि इसके धारण करने की भी कोई विधि है ?

उ०—हां, हां, क्यों नहीं। जब पूर्व लिखी विधि के अनु- यज्ञोपवीत बन चुके तो आचमन,प्राणायाम कर सङ्कल्प पढ़े। फिर यज्ञोपवीत को प्रक्षालित कर १० बार गायत्री मन्त्र पढ़ कर अभिमन्त्रित करले तो उसके नवों तन्तुओं में पूर्व लिखित नवों देवताओं का क्रमशः आवाहन, कर पूजन करे। जिस प्रकार तन्तु देवता हैं उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीन ग्रन्थि देवता भी हैं। इन सब देवताओं की आवाहन पूजनादि विधि को 'माध्यन्दिन वाजसनेयाह्निक' से सविस्तर विदित कर सकते हो। तदनन्तर यज्ञोपवीत को 'देवस्य त्वा' इस मंत्र से हाथ में लेकर—

प्रजापतेर्यत्सहजं पवित्रं कार्पाससूत्रोद्भव-ब्रह्मसूत्रम्। ब्रह्मत्वसिद्ध्यै च यशः प्रकाशं जप-स्य सिद्धिं कुरु ब्रह्मसूत्र!॥

ध्यान कर अनन्तर 'उद्वयं तमसस्परि' इस मंत्र से सूर्य नारायण को दिखावे। फिर 'यज्ञोपवीतं परम पवित्रं' इस पूर्व लिखे मंत्र से तथा 'यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनो-पन ह्यामि' कौ० ब्रा० इन दो मन्त्रों से दोनों यज्ञोपवीतों को जुदा २ धारण करे। प्रत्येक यज्ञोपवीत धारण के आदि और अन्त में आचमन करता रहे। इसके बाद—

एतावद् दिनपर्य्यन्तं ब्रह्म! त्वं धारितं मया।
जीर्णत्वात्त्वत्परित्यागो गच्छ सूत्र यथासुखम्॥

यह कहकर पुराणे यज्ञोपवीत को शिरके रास्ते निकालकर नदी, तालाव आदि शुद्ध जलाशयों में विसर्जित कर देवे। अनन्तर यथाशक्ति गायत्री का जप करे। इससे यह नहीं स-मझ लेना चाहिये कि अनुपनीत के लिये भी यही विधि है। यह तो सिर्फ उस व्यक्ति के लिये है जिसका उपनयन संस्कार तो हो चुका हो लेकिन कारण विशेष से नया यज्ञोपवीत वद-लना चाहता हो।

प्र०-पूज्यचरण! उपनयन का शब्दार्थ क्या है? तथा उपनयन-संस्कार का संक्षिप्त विवरण क्या है?

उ०-सुनो,

गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः।
बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयनं विदुः॥

उप-पूर्वक 'नी' धातु का अर्थ है पास लाना या पास प-हुँचाना। उपनयन या यज्ञोपवीत-संस्कार में बालक आचार्य अग्नि और सावित्री (गायत्री) के समीप लाया जाता है। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत्' इस गृह्यसूत्र पर भाष्य करते हुये गदाधर भट्ट ने लिखा है--"आचार्यस्य-उप-समीपे माणवक-स्य नयनम् 'उपनयन' शब्देनोच्यते। उपनयनं च विधिना आचार्यसमीपनयनम्. अग्निसमीपनयनं वा सावित्रीवाचनं वा' अर्थात्—आचार्य के समीप लाना या अग्नि के समीप लाना अथवा गायत्री के समीप लाना (गायत्री मन्त्र देना) 'उपनयन, शब्द का अर्थ है। फलतः यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर बालक को आचार्य और अग्नि की उपासना करनी पड़ती है, जिससे उसे मानसिक एवं शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है और गायत्री मन्त्र की भी उपासना (जप) करनी पड़ती है, जिससे उसे बुद्धि की पवित्रता (आत्मिक शक्ति) प्राप्त होती है।

'आचार्य आचारं ग्राहयति' निरुक्तकारने 'आचार्य' शब्दका अर्थ किया है सदाचार की शिक्षा देने वाला। मनुने लिखा है-

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥२॥१४०॥

बटु का उपनयन कर कल्प (यज्ञप्रक्रिया) और रहस्य (उपनिषद्) सहित वेद तथा वेदाङ्गों की यथावत् शिक्षा देने वाला आचार्य कहाता है। उपनयन के समय जब बालक आचार्य के समीप जाता है, तब वह उससे पूछता है "कस्य ब्रह्मचार्यसि ?" तू किसका ब्रह्मचारी है ? बालक उत्तर देता है। 'भवतः' (आपका) उस समय आचार्य कहता है--

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासौ ।

तू इन्द्र (परमेश्वर) का ब्रह्मचारी है। अग्नि तेरा आचार्य और मैं तेरा आचार्य हूँ। इसके बाद आचार्य ब्रह्मचारी के आरोग्य के लिये उपदेशपूर्ण प्रार्थना करता है-"प्रजापतये त्वा परिददामि, देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधाभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टयै"। 'अरिष्टि' अर्थात् आरोग्य के लिये मैं तुझे प्रजापति को देता हूँ। सविता(सूर्य) देवता को देता हूँ। जल और औषधियों को देता हूँ। पृथिवी और अन्तरिक्ष को देता हूँ एवं सब देवता और भूतों को देता हूँ। कुछ अथर्ववेद के मन्त्र भी इस जगह पढ़े जाते हैं, जिनमें मनुष्य पर आक्रमण करने वाले, प्राणघातक अदृश्य कीटाणुओं (Germs) का वर्णन है, और उनको मारने की बात कही गई है। अग्नि में कुछ आहुतियां देने के अनन्तर आ-

चार्य ब्रह्मचारीको आचरण सम्बन्धी उपदेश देता है। यथा-"ब्रह्मचार्यसि, अपोऽशान, कर्म कुरु, मा दिवा सुषुप्था, वाचं यच्छ, समिधमाधेहि" इत्यादि। अर्थात तू आजसे ब्रह्मचारी है। प्रतिदिन आचमन किया कर, संध्या अग्निहोत्र, आदि नित्य कर्म नियम से किया कर। दिन में कभी न सोना। वाणी को नियम में रख (झूठ, व्यर्थ, अनर्थ तथा अधिक भाषण न किया कर) प्रतिदिन समिधाओं की आहुति अग्नि में दिया कर। गाना, बजाना, नृत्य पान, फुलेल अञ्जन आदि त्याग कर, इत्यादि।

उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचारी, को परमात्मा, अग्नि और आचार्य इन तीनोंकी आराधना करनी पड़ती है, गायत्री मन्त्र द्वारा परमात्मा की आराधना से उसे आत्मिक शक्ति प्राप्त होती है, और आचार्यसे मानसिक शक्ति मिलती है। आचार्य बालकको बताता है कि तू केवल मेराही ब्रह्मचारी नहीं है, तुझे मुझसे ही सब शक्तियां प्राप्त न होंगी। तुझे इन्द्र और अग्नि की आराधना के द्वारा भी शक्तिसंचय करना होगा। ये भी तेरे आचार्य हैं। तू इनका भी ब्रह्मचारी है। मेरे ही समान तुझे इन दोनों की भी प्रतिदिन आराधना करनी होगी।

इन सब उपदेशों के अनन्तर आचार्य बालकसे कहता है कि-

'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि,।

अर्थात् जो हमारे अच्छे आचरण हैं, उन्हीं का अनुकरण तुझे करना चाहिये यदि हममें कोई त्रुटि हो यदि हमारी कोई दुर्बलता और और दुश्चरित्र हो-तो उसका अनुकरण तू कदापि न करना कितने उच्च आदर्श और उदार हृदयकी बात है।

ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचारी का प्रधान लक्ष्य है। इसके लिये उसे सादा भोजन, सादा रहन सहन शौकीनी की सब वस्तुओं का त्याग, (तात्पर्य Simpal living and high thinking) तथा आठों प्रकार के मैथुनों से बचना परमावश्यक है। स्त्रियों का स्मरण कीर्त्तन उनके साथ क्रीड़ा संलाप, गुह्यभाषण आदि सब वर्जित है। स्त्रियों के बीच में रहना, गांव में रहना, कांसे के पात्र में भोजन करना, फुलेल लगाना,सुरमा देना, पान खाना, कोमल गद्दों पर पर सोना, पुष्पमाला धारण करना मद्य, माँस, लहसन, प्याज, छतरी जूता आदि का उपयोग इत्यादि सब विकारप्रद सामग्री ब्रह्मचारी का त्याज्य है एक ओर मनको विचलित कर देने वाली सब वस्तुओं से अलग रहकर वीर्य की रक्षा करना दूसरी ओर कठिन तपस्या तथा अग्निकी उपासना एवं स्वास्थ्य से अपने ब्रह्मवर्चस् को बढ़ाना ब्रह्मचारी का धर्म है दिनमें सोने से प्रायः स्वप्नदोष होने लगता है अतः ब्रह्मचारी के लिये यह विशेष रूप से त्याज्य है। प्रतिदिन साय प्रातः अग्नि का सन्धुक्षण और हवन करते समय ब्रह्मचारी जिन मन्त्रों को पढ़ता है उनमें से कुछ ये हैं—

"ओ३म् यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि, 'एवं मां' सुश्रवः सौश्रवसं कुरु, 'यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि, 'एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्,

हे अग्ने ! तुम तेज से सम्पन्न हो, मुझे भी तेज से सम्पन्न करो। हे अग्नि ! जैसे तुम देवतों के यज्ञके खजांची (निधिपा हो यज्ञ की सम्पूर्ण आहुतियां तुम्हारे ही पास पहुँचती है और तुम प्रत्येक देवता के अंश को सुरक्षित रूप में उसके पास पहुँचाते हो, इसी प्रकार मैं मनुष्योंके वेद का अधिकारी (ख़ज़ांची या निधिपा) बनूं, वेदों के ज्ञान को मनुष्यों तक यथावत् पहुँचाने योग्य बनूं।

'ओ३म् तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि। ओ३म् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि। ओ३म् वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। ओ३म् अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण। ओ३म् मेधां मे देवः सविता आदधातु। ओ३म् मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु। ओ३म् मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥

हे अग्ने ! तुम शरीर के रक्षक (तनूपा) हो, मेरे शरीर की रक्षा करो। तुम आयु देने वाले हो, मुझे आयु दो। तुम तेज के दाता हो मुझे तेजस्वी बनाओ। हे अग्ने ! मेरे शरीर

में जो कुछ कमी हो उसे तुम पूरा करो। सविता, सरस्वती और अश्विनीकुमार मुझे मेधा अर्थात् धारणाशील बुद्धि प्रदान करें इन मन्त्रों में अग्नि से और अग्नि के द्वारा जिन देवतों (सविता, सरस्वती आदि) को हविर्भाग पहुँचाया जाता है, उनसे प्रार्थना की गई है। ब्रह्मचर्य के कठिन नियमों का पालन करता हुआ तपस्वी बालक इन मंत्रों के द्वारा प्रतिदिन दोनों समय अग्नि से तेज ग्रहण करता हुआ वैदिक ज्ञान का सम्पादन करता है। आचार्य विद्या दान और आचारशिक्षा के द्वारा उसे मानसिक शक्तियां देता है, और गायत्री मन्त्र के जप द्वारा वह अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करता है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

व्रतबन्ध।

कृतोपनयनस्याऽस्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्॥२॥१७३॥

उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचारी को व्रतादेश और नियम पूर्वक ब्रह्मग्रहण (वेदाध्ययन) का अधिकार प्राप्त होता है। उपनयन-संस्कार का ही दूसरा नाम 'व्रतबन्ध' है। हिन्दु शास्त्रों को ध्यान पूर्वक देखने से पता चलता है कि उनका उद्देश्य मनुष्य जीवन को तपोमय; यज्ञमय, अनुष्ठानमय अथवा धर्ममय बनाना है। शब्द चाहे जो कहिये, तात्पर्य एक ही है। धर्म शब्द का अर्थ इतना व्यापक है कि जन्म से

लेकर मरणपर्यन्त की कोई महत्वपूर्ण घटना इससे बाहर नहीं होने पाती। यज्ञोपवीत के दिन बालक का जीवन 'व्रत में बाँधा जाता है, इसलिये इसे 'व्रतबन्ध, कहते हैं। 'व्रत, शब्द का अर्थ है त्याज्य वस्तु का त्याग और ग्राह्य वस्तुका ग्रहण। त्याग और ग्रहण इन दोनों अर्थों में 'व्रत, धातु का प्रयोग होता है। 'पयो व्रतयति' 'पयोव्रतो ब्राह्मणः, इत्यादि वाक्योंमें केवल दूध पीने वाले को 'पयोव्रत, कहा गया है, और शूद्रान्नं व्रतयति, का अर्थ है शूद्रान्न का त्याग करने वाला। 'व्रत-बन्ध के दिन ब्रह्मचारी को आचार्य जो उपदेश देता है जिस का वर्णन मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में विस्तृत रूप से है—उसमें कुछ वस्तुओं के त्याग और कुछ वस्तुओं के ग्रहण का ही विधान है प्रातः सायं हवन सन्ध्या, स्वाध्याय, आचार्य-वन्दन आदि का विधान और दिन में सोना, शृङ्गारिक वेष, भूषा, स्त्रीकथा आदि अनेक बातों का त्याग ब्रह्मचारीके लिये बताया है इस दिन ब्रह्मचारी अपने को एक बहुत बड़े व्रत के बन्धन में डालता है।

वास्तव में प्रत्येक द्विज (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) का जीवन ही व्रतमय है। वर्ण आश्रम से बाहर के लोगोंकी तरह उच्छृ-ङ्खलता पूर्वक उसे किसी कार्यके कर डालने की सुविधा नहीं है उसके कार्य शास्त्रीय मान मर्यादा से सर्वथा नियन्त्रित हैं।

सम्भव है इस नियन्त्रणको कोई गुलामी, दासता, परतन्त्र प्रतित्व या मूर्खता तक कह डाले, परन्तु एक सच्चा और विवेक-

शील हिन्दू ऐसा नहीं समझ सकता । कैकेयीकी स्वार्थपरायण नीतिमें फंसे बूढ़े पिताकी अनिच्छा पूर्वक दी हुई आज्ञासे राज्य त्याग देना और १४ वर्ष के लिये घोर दुर्गम वन में चला जाना किसी ज़लदबाज अदूरदर्शी की दृष्टि में भले ही गुलामी मूर्खता या कायरता हो परन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की बुद्धि वैसा नहीं समझती । वह उस आज्ञापालन में ही वास्तविक आनन्द का अनुभव करती और उसी को लोक परलोक के सुधार का मार्ग समझती है । अस्तु

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥
एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥
जप्येनैव तु संसिद्धयेद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठ नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥
न तिष्ठतितु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् वहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥१०३॥

मनु० २ अध्याय

ओंकार और तीन महाव्याहृतियों (ओं भूः भुवः स्वः)से युक्त त्रिपदा गायत्री (तत्सवितुः इत्यादि) को ब्रह्म (वेद) का मुख (द्वार) समझना चाहिये। दोनों सन्ध्याओं (प्रातः सायम्) के समय इसके जपने से वेदाध्ययन का पुण्य प्राप्त होता है। जप-यज्ञ अन्य यज्ञों (विधि यज्ञ पाक यज्ञ इत्यादि) की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। ब्राह्मण यदि और यज्ञ न कर सके, तो कोई चिन्ता नहीं, परंतु जप उसे अवश्य करना चाहिये। प्रातःकाल की संध्या से रात्रि का और सायंकाल की संध्या से दिन का पाप दूर होता है। जो द्विज प्रातःकाल और सायंकाल की संध्या नहीं करता, उसे शूद्र के समान सम्पूर्ण द्विज कृत्यों से बाहर कर देना चाहिये। इस प्रकार 'उपनयन" के तीन अङ्गों (आचार्यसेवा, अग्निसेवा और गायत्रीजप) का यह संक्षिप्त विवरण हुवा।

हां, तो अब ज़रा 'व्रत-बन्ध' का भी विवरण सुनिये, उस दिन द्विज बालक अपने को एक बहुत बड़े व्रत के बन्धन में डालता है ?

"दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति स यामुपयन्त्समिधमादधाति सा प्रायणीया यां स्नास्यन्त्सोदयनीयाऽथ या अन्तरेण सत्र्या एवास्य ताः, ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यमुपयन् चतुर्धा भूतानि प्रविशति-अग्निम्पदा, मृत्युम्पदा, आ-

चार्यस्पदा, आत्मन्येवाऽस्य चतुर्थः पादः परिशिष्यते।

अर्थात्–ब्रह्मचर्य का ग्रहण करना एक दीर्घसत्र (बहुकाल व्यापी यज्ञ) का ग्रहण करना है। यज्ञोपवीत के दिन से वह 'दीर्घसत्र' आरम्भ होता है और संन्यास न ले तो यावज्जीवन बना रहता है। ब्रह्मचर्य काल में द्विज बालक अपने में जो शक्ति संचय करता है, उसकी चर्चा पूर्वोक्त मन्त्र में है। "ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला द्विज चार भागों से महाभूतों में प्रवेश करता है। एक भाग से अग्नि में, दूसरे भाग से मृत्यु में, तीसरे भाग से आचार्य में। चौथा भाग उसका अपने में ही अवशिष्ट रहता है।" यदि अपने में चौथा भाग अवशिष्ट न रहे तो बाहर से आने वाली शक्तियों का सञ्चय काहे में हो? आहार निद्रा, भय और मैथुन प्राणिमात्र में समान हैं। जब तक संस्कार न हो, तब तक ब्राह्मण का बालक भी शूद्र सदृश (कामचार और कामभक्ष(१)) होता है। द्विजत्व की प्राप्ति उपनयन संस्कार से ही होती है।

नोट १–'प्रागुपनयनात्कामचारभक्षः' गौतमस्मृति २ अ०।

"जातमात्रशिशुस्तावद् यावदष्टौ समा वयः।
स हि गर्भसमो ज्ञेयो व्यक्तिमात्रप्रदर्शितः ॥४॥
भक्ष्याभक्ष्ये तथा पेये वाच्यावाच्ये ऋतानृते।
अस्मिन् बाले न दोषः स्यात् स यावन्नोपनीयते ॥ ५ ॥

यह द्विजत्व क्या है? शारीरिक, मानसिक, तथा आत्मिक शक्तियों का विकास और संस्कार, जिसकी चर्चा प्रकृत वैदिक वचनों में हो रही है।

हान और उपादान जीवन के प्रधान चिन्ह हैं। जिसमें जीवन है वह—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म आदि कुछ भी क्यों न हो अपनी हितकर वस्तुओं को बाहर से ग्रहण करता और अहित तथा व्यर्थ वस्तुओं को अपने शरीर से बाहर फेंकता है। इतना ही नहीं, वह बाहर से ली हुई वस्तुओं का अपने अन्दर संस्कार भी करता है! उस संस्कार से शुद्ध कर लेने पर वह उन्हें अपनाता है। इस संस्कार के द्वारा बाहर से आई वस्तुओं का एक दम रूपान्तर हो जाता है। इस रूपान्तर से ही वे अपने ग्रहीता के उपयुक्त बनती हैं जिसमें–जाति हो या व्यक्ति–यह हान-उपादान और संस्कार का क्रम जारी नहीं है, उसे जीवित नहीं कहा जा सकता। जीवन का यही प्रधान लक्षण है। जो वृक्ष जीवित है, वह अ-

---

उपनीते तु दोषोऽस्ति क्रियमाणैर्विगर्हितैः"॥ दक्षस्मृति १ अ०

जब तक बालक की आठ वर्ष की अवस्था न होजाय तब तक उसे उत्पन्न हुये के ही समान जाने, वह बालक गर्भस्थित बालक के समान है; उसका एक आकारमात्र ही है। ४। जब तक बालक का जनेऊ न हो तब तक भक्ष्य, अभक्ष्य पेय, अपेय, सत्य और झूंठ में इसे कोई दोष नहीं। यज्ञोपवीत हो जाने पर निन्दित कर्म करने से पाप का भागी होता है।

पना भोजन पृथ्वी से खींचता है। मूली आदिक कन्द अपने पत्तों के द्वारा बाहरी वायु से अपना खाद्य पदार्थ संचित करते हैं। यदि खेत में लगी मूली के पत्ते तोड़ दिये जांय, तो उसके कन्द का बढ़ना बन्द हो जायगा। वृक्ष आदि जिस वस्तु को (पृथ्वी या वायु से जिस जलीय और पार्थिव अंश को) खींचते हैं, उसका फिर अपने में संस्कार भी करते हैं। इसी संस्कार के बाद बाहर से आया हुआ पदार्थ उनके शरीर के उपयुक्त होता है। नीम, आम और गन्ना एक ही पृथ्वी में से एक सा रस खींचते हैं। परंतु अपने २ पत्तों में-जो उनकी पाक-स्थली है-उसे फिर से संस्कृत करते हैं। इसी संस्कार के द्वारा बाहर से आये हुये रूप रसादि का एक दम परिवर्तन होजाता है यह परिवर्तन प्रत्येक जाति के वृक्ष में भिन्न २ रूप से होता है। यही कारण है कि नीम के अङ्गका प्रत्येक परमाणु कड़वा और गन्ने का मीठा होता है। प्रत्येक जीवित वृक्ष बाहरसे लिये हुए खाद्य पदार्थका शुद्धि-संस्कार करके इसी प्रकार उसे अपने अनुरूप बनाता है। मनुष्य और पशु पक्षियों का भी यही हाल है। रोटी, दाल भात, मिठाई, भूसा, चोकर, फल, फूल आदि को खाने के बाद इनकी पाकस्थली में हलचल मच जाती है और बाहर से आई हुई वस्तु का संस्कार आरम्भ होता है अनन्तर अपने शरीर के उपयुक्त अंश का खींचना आरम्भ होता है। जो वस्तु व्यर्थ बचती है, वह पाखाना पेशाब आदि मलों के रूप में बा-

हर फेंकी जाती है और जो हितकर होती है वह रुधिर आदि के रूप में परिणत होकर शरीर का अङ्ग बनती है। जीवन का यही चिह्न है कि बाहर से ली हुई वस्तु का संस्कार करके उसे अपने में रक्खे। यदि किसी में संस्कार करने की शक्ति नहीं है तो वह जीवित ही नहीं, सन्दूक में रक्खे हुये कपड़े और मशक में रक्खा हुआ पानी उसी रूप में रह सकता है, परन्तु पेट में पहुँचा भोजन अविकृत नहीं रह सकता। अब प्रकृत वेद—मन्त्र के अर्थ पर विचार कीजिये।

"स यदग्नये समिधमाहरति य एवास्या-ग्नौपादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्या-ऽत्मनि धत्ते स एनमाविशति,,।

ब्रह्मचारी चार प्रकार से महाभूतों में प्रवेश करता है यह पहले कहा जा चुका है। यह उसी का विवरण है। इसमें एक चरण (अंश) से अग्नि में प्रवेश करने की बात है। ब्रह्मचारी प्रति दिन सायं प्रातः जो हवन करता है-अग्नि में समिधाओं की आहुति देता है—उससे अग्नि में अवस्थित अपने अंश को वापस लेता है या मोल लेता है। जिस प्रकार मोल लेने में कोई चीज़ देकर उसके बदले में दूसरी चीज़ ली जाती है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी आहुतियाँ देकर अग्नि से शक्तियां लेता है, यह तात्पर्य है। और फिर अग्नि से लिये हुए अंश का सं-स्कार करके (संस्कृत्य) उसे अपने में रखता है। तब वह

अग्नि से आया हुआ अंश इस ब्रह्मचारी में 'आविष्ट' होता है अर्थात् इसके शरीर में तन्मय होजाता है।

पूर्व कह आये हैं कि बाहर से आई हुई वस्तु का संस्कार करके उसे अपने अनुरूप बनाना ही जीवन का चिह्न है। अग्नि में जो शक्तियां जिस रूप में हैं, वे मनुष्य के शरीर में उस रूप में उपयुक्त नहीं हैं। पार्थिव अग्नि का तेज सूक्ष्म रूप में परिणत होकर शरीर और मन में 'आविष्ट' हो सकता है। स्थूल रूप से नहीं। जैसे खाया हुआ भोजनका सूक्ष्म अंश रस रुधिर आदि के रूप में परिणत होकर शरीर में आविष्ट होता है, उसी प्रकार अग्नि का सूक्ष्म अंश तेज और ब्रह्मचर्य आदि के रूप में परिणत होकर ब्रह्मचारी के शरीर और मन में तन्मय होकर निवास करता है। अग्नि से शक्ति सञ्चय करते समय -हवन के समय-ब्रह्मचारी जो मन्त्र पढ़ता है उनमें से एक इस प्रकार है।

"ॐ अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथात्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसानि, अनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादोभूयासं स्वाहा"

अर्थात्-बृहत् जातवेदा, अग्नि के लिये मैं समिधा लाया

हूँ। हे अग्ने! जैसे तुम इस समिधा से समिद्ध (प्रज्वलित, प्रदीप और परिवर्धित) होते हो, उसी प्रकार मैं आयु, बुद्धि (विवेक शक्ति) तेज, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से समिद्ध (प्रदीप्त और परिवर्धित) होऊं। मेरे आचार्य (जिनके आचार्यकुल या गुरुकुल में मैं पढ़ता हूँ और जो सब शिष्यों के पिता हैं) 'जीवपुत्र' हों, अर्थात् उनका कोई भी पुत्र मृत्यु के मुख में न जाय। मैं मेधावी (धारणाशक्ति वाला, सत् असत् के विवेक में समर्थ होऊं। मैं कभी वैदिकधर्म का निराकरण न करूं, अर्थात् मैं कभी नास्तिक न होऊं। मैं यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी और अन्नाद=अन्न खाने वाला (मांस खाने वाला नहीं) बनूं।

जिन लोगों ने मीमांसा शास्त्र पढ़ा है, वे जानते हैं कि प्रत्येक वैदिक अनुष्ठान से 'अपूर्व' नामक एक संस्कार की उत्पत्ति होती है। वैदिक शब्दों में कुछ विशेष शक्ति होती है उन शब्दों को उनके ठीक २ स्वरादि के साथ उच्चारण करके वैदिक विधि का यथावत् अनुष्ठान करने से मनुष्य के अन्तःकरण में एक संस्कार उत्पन्न होता है। इसीको 'अपूर्व' कहते हैं यह नियत समय में उन फलों को उत्पन्न करता है जिन के लिये वह वैदिक विधि की गई थी, जो ब्रह्मचारी ८ वर्ष की आयु से २४ वर्ष की आयु (कम से कम सोलह वर्ष) तक पूर्वोक्त वैदिक विधिका अनुष्ठान करता है, नियमपूर्वक दोनों समय समिदाधान और ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता

है, उसमें एक'अपूर्व'उत्पन्न होकर प्रकृत वेदमन्त्र में उल्लिखित प्रार्थनाओं को पूर्ण करता है, यह याज्ञिक लोगों का मत है।

प्रकृत मन्त्रके "जीवपुत्रो ममाचार्यः" से प्रतीत होता है कि किसी समय भारत में छोटे बच्चों की मृत्यु नहीं हुआ करती थी। गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यासियों की तरह ब्रह्मचारी नहीं मरा करते थे। एक दूसरे वैदिकमन्त्र में भी इसी प्रकार की बात पाई जाती है—

"ॐ ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजा प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्। सोऽब्रवीत् अस्तु मह्यमप्येतस्मिन् भाग इति यामेव रात्रिं स-मिधं नाहराता इति तस्माद् यां रात्रिं ब्रह्मचारी समिधमाहरेन्नेदायुषोऽवदाय वसानीति,,।

अर्थात्–ब्रह्म ने सब प्रजा मृत्यु को दी, परन्तु केवल ब्रह्म-चारीको नहीं दिया। ब्रह्मचारीने कहा मुझे भी इसमें भागदो उत्तर मिला, जिस दिन समिधा का हवन न करोगे, वही तु-म्हारी मृत्यु का दिन होगा। इसलिये ब्रह्मचारी जिस दिन हवन नहीं करता,उस दिन उसकी आयु क्षीण होती है। अतः ब्रह्मचारी को चाहिये कि प्रतिदिन समिदाधान करे, जिससे उसकी आयु क्षीण न हो। यह आलङ्कारिक वर्णन है। ब्रह्म-चारी अग्नि के द्वारा शक्तिसंचय करता है, यह बात कही जाचुकी है। जिस दिन वह अपनी शक्तियां सञ्चित नहीं क-

रेगा, उतनी ही कमी उसकी पूर्णता में रह जायगी। यही प्रकृत मन्त्र का तात्पर्य है। ब्रह्मचारी एक अंश से अग्नि में प्रवेश करता है। इसकी चर्चा होचुकी, अब अगले अंश 'मृत्युमपदा, को देखिये। दूसरे अंश से ब्रह्मचारी मृत्यु में प्रवेश करता है। मृत्यु दो प्रकार की होती है। शारीरिक और मानसिक मृत्यु। आत्मा सदा अजर अमर है। शारीरिक मृत्यु शरीर के विकृत तथा दूषित होनेसे होती है। और मानसिक मृत्यु मनके विकृत और दूषित होने से। शरीर के विकार, ज्वर, अतीसार आदि और दोष वात, पित्त, कफ कहाते हैं एवं मन के विकार काम क्रोध और लोभ मत्सर आदि और दोष रजस, तामस कहाते हैं।

'रजश्च तमश्च मानसौ दोषौ शारीरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः, (चरक)

शारीरिक मृत्यु से बचने के लिये शरीर में शक्तिसञ्चय करने की और मानसिक मृत्यु से बचने के लिये मन को रजोगुण तमोगुण से बचा कर सात्विक और शान्त बनाने की आवश्यकता है शारीरिक शक्तियों की बात अग्नि के प्रकरण में विशेष रूप से आचुकी है। अब अगले खण्ड में मानसिक मृत्यु और मानसिक शक्ति की चर्चा करते हैं।

"अथ यदाऽत्मानं दरिद्रीकृत्येवाऽहं भूत्वा भिक्षते य एवाऽस्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन

परिक्रीणाति तं संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनमाविश्नति, ।

अर्थात्–ब्रह्मचारी अपने को दरिद्र के समान बना कर, लज्जा छोड़ कर जो भिक्षा करता है, उससे मृत्यु को जीतता है मृत्यु से अपने अंश को लेकर उसका संस्कार करके उसे अपने में रखता है। इस प्रकार संस्कृत होकर वह अंश ब्रह्मचारी में 'आविष्ट, होता है।

ब्रह्मचारी धनी का पुत्र होने पर भी एक दरिद्र के पुत्र के समान अपने को बनाता है और दोनों एक से आहार व्यवहार और वेष में रहते हैं। दोनों ही समानरूप से भिक्षा मांगते और गुरु की सेवा करते हैं। धनी के पुत्र को धन का घमंड और अपनी मिलिकयत का घमण्ड–जो उसके मानसिक विकार और मानसिक मृत्यु के कारण हैं–छोड़ने पड़ते हैं उसे साधारण दरिद्र गृहस्थ के घर भी भिक्षा मांगनी पड़ती है। उसके मन के रजोगुण और तमोगुण चूर चूर होजाते हैं वह यदि एक दम हृदयहीन नहीं है तो निस्सन्देह यह अनुभव करने लगता है कि मेरा पालन पोषण करने वाला केवल मेरा पिता ही नहीं बल्कि देश का दरिद्र से दरिद्र गृहस्थ भी मेरा पिता है, जिसकी दी हुई भिक्षा से मेरा पालन पोषण होता है। मैं समस्त देश का बालक हूँ। मैंने सबका अन्न खाया है इससे उऋण होने के लिये देश भर की सेवा करना मेरा धर्म है। एक दरिद्र से दरिद्र देशवासी गृहस्थ को पितृ-तुल्य स

मझना मेरा कर्त्तव्य है इत्यादि । इस प्रकारके भावों के मन में उद्भूत होने से अभिमान, ईर्ष्या मत्सर घृणा, क्रोध, और द्वेष आदि विकार जो रजोगुण और तमोगुण नामक दोषों से उत्पन्न होते हैं अपने आप ही शान्त होजाते हैं, और सात्विक शान्ति का उदय होता है जिसके कारण ब्रह्मचारी मानसिक मृत्युसे बचता है।

'अथ यदाचार्यवचसं करोति यदाचार्याय कर्म करोति व एवाऽस्याचार्ये पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्यात्मन्धत्ते स एनं माविशति ॥

और जो आचार्य की आज्ञा का पालन करता है एवं आचार्य की सेवा शुश्रूषा आदि करता है उससे वह (ब्रह्मचारी) आचार्य से अपना अंश लेता है. और उसे संस्कृत करके अपने में रखता है। वह विशुद्ध अंश इसमें आविष्ट, होताहै। एक ही गुरु से अनेक विद्यार्थी पढ़ते हैं, परन्तु गुरु शुश्रूषा करने वालों को जो चमत्कार और उत्कर्ष प्राप्त होता है, वह अन्यों को नहीं होता। यह बात आज भी प्रत्यक्ष है। जिन्होंने गुरु चरणों की सेवा करके कुछ लाभ उठाया है, वे भुक्तभोगी ही इस वैदिक मन्त्र का वास्तविक महत्त्व समझ सकेंगे। इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों के सञ्चय की बात हुई। इन्हीं शक्तियों के आधार पर वेद में कहा है कि—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत,

अर्थात्–ब्रह्मचर्य और तपस्या के बल से देवतों ने मृत्यु को पराजय किया। कौषीतकि ब्राह्मण में यज्ञोपवीत पहनाने का एक मन्त्र आता है- -

"यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीते-नोपनह्यामि दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे,,

आचार्य ब्रह्मचारी से कहता है कि मैं त्वा = तुझे, यज्ञोपवीतेन = यज्ञोपवीत से, उपनह्यामि = बांधता हूँ। किस लिये? दीर्घायुत्वाय = दीर्घ आयु प्राप्त करने के लिये, बल और तेज प्राप्त करने के लिये।

आयु, बल और तेज किस प्रकार प्राप्त होता है? यह बात ऊपर के वर्णन से समझी जा सकती है। ब्रह्मचर्य दशा में ब्रह्मचारी अपने में किस प्रकार शक्तियों का सञ्चय करता है? इसका ज्ञान हाजाने पर प्रकृत मन्त्र का अर्थ समझने में देर न लगेगा। फिर यह प्रश्न न उठेगा कि "जनेऊ के इन तीन तारों में ऐसी कौनसी बात है जो आयु, बल और तेज दिया करती है?। अब रही यह बात कि यज्ञोपवीत पहनने वालों में ऐसे कितने हैं, जो दीर्घायु बलिष्ठ और तेजस्वी हों? इसका उत्तर भी एक प्रकार से दिया जा चुका है। यह ठीक है कि कसरत करने और कुश्ती लड़ने से शारीरिक शक्ति बढ़ती है। परन्तु यदि कुछ लोग किसी अखाड़ेका सिर्फ गंडा

अपने गले में बांध लें और कसरत एक दिन भी न करें, इस लिये शारीरिक उन्नति भी न कर सकें, फिर उन्हें दिखाकर यदि कोई पूछे कि इन गण्डा बान्धने वालों में ऐसे कितने हैं जो शारीरिक शक्ति से पूर्ण हों, तो उसका क्या उत्तर होगा? यज्ञोपवीत जिस 'दीर्घसत्र, का प्रतिज्ञा सूत्र है, यज्ञोपवीत पहन कर जिस 'दीर्घसत्र' को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की जाती है, यदि कोई उसे पूरा न करे, केवल यज्ञोपवीत लटकाये फिरे और दीर्घसत्र का नाम भी न ले, यहां तक कि सन्ध्या और गायत्री तक से पराङ्मुख हो जाय एवं इसी कारण बलहीन, तेजोहीन, रोगी अल्पायु भी हो, तो दोष किसका? उसे दिखाकर यज्ञोपवीत पर कैसे दोषारोप किया जा सकता है? प्रतिज्ञासूत्र पहनने वाला यदि अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करने के कारण पथभ्रष्ट हो जाय, तो बेचारे प्रतिज्ञा सूत्र का क्या क़सूर? यह तीन तार का दुर्बल सूत्र इस साढ़े तीन हाथ के कर्म हीन जानवर को कैसे ऊपर घसीटे? हाँ, इस निर्लज्ज के गले में पड़कर सड़ते रहने के कारण बेचारा यज्ञ-सूत्र लज्जित अवश्य होता होगा। अस्तु

यज्ञोपवीत संस्कार को उपनयन, आचार्यकरण और व्रतबन्ध भी कहते हैं। इसी प्रकार यज्ञोपवीत के भी ब्रह्मसूत्र आदि कई नाम हैं जो कि पूर्व लिख भी आये हैं। यज्ञोपवीत संस्कार के समय उत्तर भारत में जो कर्मकाण्ड का कार्य होता है, वह तीन वेदियों में विभक्त होता है। उपनयन, वेदा

रम्भ और समावर्तन । दक्षिण भारत में केवल दो वेदियों का कार्य उस समय होता है । समावर्तन का कार्य विवाह से पूर्व किया जाता है उसी दिन नहीं । यह प्रथा श्रेष्ठ है । उपनयन संस्कार में आचार्य बालक को गायत्री मन्त्र का उपदेश देता है, और वेदारम्भ की वेदीसे वेद पाठ का कार्य आरम्भ होता है । इन दोनों वेदियों के बाद ब्रह्मचर्य-पालन पूर्वक वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त होता है । समावर्तन के बाद गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है । समावर्तन करते ही ब्रह्मचर्य आश्रम तो समाप्त होगया, और विवाह न होने के कारण गृहस्थाश्रम का आरम्भ नहीं हुआ, अतः वह बालक, जिसकी तीनों वेदियां एक ही दिनमें पूरी कर दी गईं न ब्रह्मचारी रहा, न गृहस्थ । वानप्रस्थ या संन्यासी तो हो ही कैसे सकता है ? फलतः वह अनाश्रमी होगया । उसकी गिनती किसी आश्रम में न रही । धर्मशास्त्र के ग्रंथों में अनाश्रमी की बड़ी निन्दा की है । इसी कारण दक्षिण-भारत की पूर्वोक्त प्रथा को हमने उत्तर-भारत की प्रथा से श्रेष्ठ बताया है ।

प्र०—मान्यवर ! उपनयन संस्कार किस वर्ण का कब होना चाहिये ? कारणवश यदि नियमित समय पर न हो सके तब क्या कर्तव्य है ?

उ०—षोडश संस्कारों में से उपनयन-संस्कार १० वाँ संस्कार है । कहते हैं कि—

द्वे जन्मनी द्विजातीनां मातुः स्यात्प्रथमं तयोः।

द्वितीयं छन्दसां मातुर्ग्रहणाद् विधिवद् गुरोः॥२२॥
एवं द्विजातिमापन्नो विमुक्तो वान्यदोषतः।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां भवेदध्ययनक्षमः ॥ २३ ॥

व्यास स्मृति १ अ०

ब्राह्मण, क्षत्रिय; वैश्य इन तीनों वर्णों के दो जन्म होते हैं, पहिला जन्म माता के गर्भ से, दूसरा जन्म गुरु के निकट विधि सहित वेदमाता (गायत्री) को ग्रहण करने से २२। इस भान्ति से यह द्विजत्व १ को प्राप्त हो कर तथा अन्य दोषोंसे रहित हो, श्रुति स्मृति और पुराणके पढ़ने योग्य होता है २३। विष्णुस्मृति १। १३ में भी यही बात कही है।

"द्विजत्वे त्वथ संप्राप्ते सावित्र्यामधिकारभाक्।

ब्राह्मणादि तीन वर्ण 'द्विज' होने पर ही गायत्री का अधिकारी होता है, और वह 'द्विजत्व' उपनयन संस्कार के आधीन है।

शास्त्रों में उपनयन संस्कार का काल तीन प्रकार से बताया गया है। काम्य-मुख्य और गौण।

"ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहाऽर्थिनोऽष्टमे ॥

मनु० २ ॥ ३७ ॥

नोट१—"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते" १३८अत्रि स्मृति॥

ब्राह्मण के वंश में जन्म होने से ब्राह्मण होता है, और जब उसका संस्कार (उपनयन) होता है तो 'द्विज' कहलाता है।

ब्रह्मतेज, बल और धन, क्रमशः इन बातोंकी कामना रखने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ५, ६, और आठ वर्ष में अपनी २ सन्तानों का उपनयन कर दें। यह काल कामना रखने के कारण 'काम्यकाल' है। दूसरा—

'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

मनु० २॥ ३६॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य, गर्भस्थितिके दिन से लेकर अपनी २ सन्तान का क्रमशः ८–११ और बारहवें वर्ष में 'उपनयन' करावें। यह काल मुख्यकाल है। लेकिन यहाँ पर वर्ष गणना विकल्प है। चाहे गर्भ से लो और चाहे जन्म से, क्योंकि याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय में यह बात स्पष्ट करदी गई है कि "गर्भाष्टमेऽष्टमेवाऽब्दे' १४। अर्थात् यह अपनी इच्छा है इसमें शास्त्रविकल्प है। तीसरा—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥

मनु० २॥ ३८॥

देश विप्लव, राष्ट्रविप्लव, आधि, व्याधि आदि कारणों से यदि पूर्वोक्त मुख्य काल में न हो सके तो उससे दुगुने अर्थात् क्रमशः १६, २२ और २४ वर्ष तक ये तीनों वर्ण अपनी २ सन्तति का यज्ञोपवीत-संस्कार करा सकते हैं। यदि इतने पर भी कुताई कर जांय तो—

"अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥२ ३९

ये लोग उपनयन-हीन होने के कारण शिष्टजनगर्हित होने से 'व्रात्य, कहलाते हैं। और इनके साथ-

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह॥२ ४०]

चाहे कितने भी आपद्ग्रस्त क्यों न हों, जब तक ये लोग यथाविधि प्रायश्चित्त न कर लें। वेदोंका अध्ययन, अध्यापन और कन्यादान आदि नाता-रिश्ता न करे। यही बात व्यास स्मृति १ अ० २१ श्लो० में भी लिखी है कि—

तस्य प्राप्तव्रतस्यायं कालः स्याद् द्विगुणाधिकः।
वेदव्रतच्युतो व्रात्यः स व्रात्यस्तोममर्हति॥

उपनयन के नियमित समय से भी यदि दुगुना वक्त बीत जाय, और यज्ञोपवीत न हुआ हो तो वेद के व्रत से पतित हो जाते हैं, उन्हें फिर—"व्रात्यस्तोम" यज्ञ करना चाहिये। इस विषय में काशीस्थ पं० रामभिश्रशास्त्री जी का 'व्रात्यसंस्कार मीमांसा" नामक ग्रन्थ देखने योग्य है।

प्र०—श्रीमन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन के लिये क्रमशः ८, ११ और १२ ही वर्ष क्यों मुख्यकाल माने गये हैं, कृपया रहस्य उद्घाटित कीजिये! और कृपया यह भी

बतलाइये कि समय समय जब सदा एक सा है काल अखण्ड निराकार एक रस है तो उसमें–बसन्त ऋतु में ब्राह्मण, ग्रीष्म में क्षत्रिय और शरद् ऋतु में वैश्य का उपनयन हो" इस प्रकार भेद कल्पना क्यों ?

उ०--सुनो, काल अखण्ड, एकरस और निराकार है सही, परंतु जिस प्रकार सृष्टि समय में निराकार ब्रह्म ही ब्रह्मा रूप से साकार होते हैं और संसार चक्र को चलाते हैं, इसी प्रकार निराकार काल भी निमेष से लेकर क्षण, पल घटी, दिन सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु अयन सम्वत्सर, युग मन्वन्तर और कल्प तक यथा सृष्टि समय से प्रलय समय तक के भेदको प्राप्त होता है। यह भी लोकप्रत्यक्ष है कि समय समय एक होने पर भी एक नहीं, हम देखते हैं कि कोई वृक्ष किसी ऋतु में पुष्पित और फलित होता है तो कोई किसी में, कोई बीज किसी ऋतु (मौसम) में बोये जाते हैं तो कोई और ही ऋतुमें। कभी सर्दी के मारे हाथ, पांव ठिठर जाते हैं तो दूसरी मौसम में मारे गर्मी के कचूमर निकल जाता है कालविभाग के कारण ही ज्योतिष शास्त्रको वेदका नेत्र माना है क्योंकि हरएक यज्ञ में कालज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। भास्कराचार्य कहते हैं—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्ता-स्तेतु कालाश्रयेण। शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्॥

वेदों का जन्म यज्ञों के लिये है, यज्ञ काल के आश्रित हैं, और वह कालनिर्णय ज्योतिष शास्त्र के हाथ है। दर्शयाग का वह काल है कि जिस दिन पूर्व और पश्चिम में चन्द्रमा का उदय न हो। इसी प्रकार संध्या के लिये लिखा है "प्राग् ज्योतिषो दर्शनात्" आरण्यक ताराओं के अन्त होने से सूर्यनारायण के उदय होने तक सन्ध्या का काल है। तो देशकाल की तो यह बात मानी हुई है। हर एक देश और काल की जुदी २ तासीर होती है इसलिये काम काम के लिये देश विशेष और काल विशेष की जरूरत पड़ती है। स्वयं भगवान् ही कहते हैं "देशे काले च पात्रे च" गी० १७। २०। इसलिये कालविशेष और अवस्था विशेष में किया हुआ कर्म समधिक गुणकारी होता है। इसकी सूक्ष्मता का ज्ञान अध्यात्मप्रसाद से उपलब्ध 'ऋतम्भरा, प्रज्ञा के आधीन होता है उपनयन के लिये शास्त्रकारों की बताई हुई बसन्त आदि ऋतुयें और अष्टवर्ष आदि अवस्थायें भी वे ही कालविशेष व अवस्था विशेष हैं जिनमें किया हुआ कर्म अनन्तगुण फल देता है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने भी लिखा है "जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे" सं० वि० पृष्ठ ५४। यवन और ईसाई भी शुक्रवार और रविवार को पवित्र मानते हैं। जैन बौद्ध भी अष्टमी, चतुर्दशी को पुनीत मानते हैं। अशोक के राज्य में चतुर्दशी को सब प्रकार की हिंसा वर्जित थी। जब

कुत्ते और काक भी चतुर्दशी और अष्टमी का कुछ उपवास करते हैं तो फिर सब दिन एक से नहीं, किन्तु समय विभाग यथार्थ में कुछ फल रखता है।

वसिष्ठस्मृति अ० ४ में लिखा है कि "गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत् त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यम्" अर्थात् गायत्री छन्द से ब्राह्मण की सृष्टि हुई त्रिष्टुभ से क्षत्रिय और जगती छन्द के योग से वैश्य की सृष्टि ईश्वर ने की है। पारस्कर गृह्यसूत्र २–३ में भी यही कहा है।

वृहदा० उपनिषद् ५ अ० १४ ब्रा० १ कं०में लिखा है कि–"अष्टाक्षरं ᳫ ह वा एकं गायत्र्यै पदम्" गायत्री का एक पाद आठ अक्षर का होता है, जब कि गायत्री छन्द से ब्राह्मण की सृष्टि हुई और वह (गायत्री) अष्टाक्षरपदा है तो क्यों न आठ ही वर्ष की अवस्था में उसे गायत्री का अधिकार (उपनयन द्वारा दिया जाय। इसी प्रकार त्रिष्टुप् छन्द का एक पाद ११ अक्षर का होता है, त्रिष्टुप् से क्षत्रिय की उत्पत्ति हुई तो उसे भी ११ ही वर्ष में उपनयन देना चाहिये। जगती का जिससे वैश्य की उत्पत्ति मानी गई पाद १२ अक्षरका होता है अतः 'द्वादशवर्षं वैश्यमुपनयेत्" १२ वर्ष में ही उसका उपनयन मुख्य है।

बृहदारण्यक उपनिषद् ३ अ० ६ ब्रा०में याज्ञवल्क्य ऋषि ने शाकल्य के प्रति ३३ देवता गिनाते हुये कहा है–

'त्रयस्त्रि ᳫ शत्त्वेव देवा इति कतमे ते

अयस्त्रिᳫंशद्दित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः,

अर्थात् ८ वसु ११ रुद्र और १२ आदित्य गिनाये हैं आगे चलकर "कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च" इत्यादि कह कर आठ वसुओं में सर्वप्रथम 'अग्नि को गिनाया। इसी उपनिषद् के १ अ० ४ ब्रा० ६ कं० में ब्राह्मण का देवता अग्नि माना है। अग्नि और ब्राह्मण इन दोनों का उत्पत्तिस्थान (विराट् पुरुष का मुख) एक ही है। अग्नि वसुओं में सर्वप्रथम गिनाई गई और श्रुति भी "अग्निः प्रथमो वसुभिर्नोऽव्यात्" अग्नि और वसुओं का सम्बन्ध प्रतिपादन करती है, वसु आठ हैं इसलिये भी ब्राह्मण का उपनयन आठ ही वर्ष की अवस्था में मुख्य माना गया। इसी प्रकार इसी उपनिषद्के अ० १ ब्रा० ४ कं० ११में देवताओंको "यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः" इत्यादि कह कर गिनाया है। इनमें रुद्र का भी नाम है। ऊपर कह आये हैं कि रुद्र ११ हैं। रुद्र जब देव क्षत्र हैं तो उनके साहचर्य से क्षत्रिय का उपनयन क्यों न ११ ही वर्ष में हो? यह भी एक कारण है कि क्षत्रिय के उपनयन संस्कार का काल ११ वर्षमें ही मुख्य माना गया है। इस अध्याय की १२ वीं कण्डिका में आगे चलकर वैश्य सम्बन्धी गण देवताओं को गिनाया है "रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति" तो आदित्यों का भी नाम आया है। पूर्व लिख आये हैं

कि आदित्य १२ हैं। "द्वादशात्मा: दिवाकरः" ११वीं कण्डिका में जिस प्रकार सोम-जो कि ब्राह्मणों का राजा है उसके साहचर्य से रुद्र लिया गया था इसी प्रकार यहां पर भी क्षत्रिय के अनन्तर भव वर्ण वैश्य के लिये रुद्र के अनन्तर आदित्यों का ग्रहण करना। चूंकि आदित्य १२ हैं और वे वैश्य वर्ण नियन्त्री देवता हैं अतः "द्वादशे वैश्यमुपनयेत" वैश्यके उपनयनार्थ १२ वां वर्ष ही मुख्य काल ठीक है।

प्र०-भगवन् ! शास्त्रों में ऐसी भी कोई यज्ञोपवीत निर्माण व धारण विधि है जो संक्षिप्त रूप में हो, जिससे वे लोग भी लाभ उठा सकें जो आपद्ग्रस्त हैं या जिन्हें समय इतना नहीं पर श्रद्धा अवश्य है ?

उ०-हां, पूर्वोक्तविधि के करने में अशक्त द्विजाति के लिये देवल ऋषि कहते हैं—

'ग्रामान्निष्क्रम्य संख्याय षण्णवत्यङ्गुलीषु तत् ।
तावत्त्रिगुणितं सूत्रं प्रक्षाल्याब्लिङ्गकैस्त्रिभिः ॥१॥
देवागारेऽथवा गोष्ठे नद्यां वाऽन्यत्र वा शुचौ ।
सावित्र्या त्रिवृतं कुर्या-न्नवतन्तु तु तद् भवेत् ॥२
कार्पासं त्रिवृतं श्लक्ष्णं निदध्याद् वामहस्तके ।
सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भि-र्मन्त्रिताभिस्तदुक्षयेत्॥
हरिद्राक्षेश्वरेभ्यश्च प्रणम्य परिपूज्य च ।

यज्ञोपवीतमिति वा व्याहृत्या वापि धारयेत्॥४

अर्थात्-गाँव के बाहर निकलकर देवालय, गोशाला नदी या अन्यत्र तीर्थ आदि किसी शुद्ध प्रदेश में जाकर ९६ चप्पे सूत माप कर तीन चप्पी बना कर "आपोहिष्ठा" आदि पूर्व लिखित तीन मन्त्रों से गीला करके गायत्री से इकट्ठा बल देवे फिर त्रिगुणित करे और फिर त्रिवृत कर ओङ्कार से ग्रन्थि देवे। अनन्तर बायें हाथ पर रख कर गायत्री से दश वार जल छिड़ककर प्रक्षालित कर-ब्रह्मा, विष्णु, शिव को प्रणाम कर तथा आचमन प्राणायाम कर सङ्कल्प पढ़ कर यज्ञोपवीत को दोनों हाथों से सम्पुट के अन्दर बन्द कर दशवार गायत्री मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर तथा पूजन करके "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्" इससे अथवा व्याहृतियों से एक २ करके दोनों ज-नेऊ दक्षिण हस्त द्वारा धारण कर लेवे। प्रत्येक यज्ञोपवीत के धारण करते समय अन्त में आचमन करे। इस प्रकार यज्ञो-पवीत धारण कर अन्त में यथाशक्ति गायत्री का जप करे। पुराने यज्ञोपवीत को "एतावद्दिनपर्य्यन्तम्" इस पूर्व लिखे पद्य को पढ़कर छोड़ देवे।

प्र०-पूज्य पण्डित जी! यज्ञोपवीत केवल पुराने होने पर ही बदला जाता है, या और समय में भी बदला करते हैं?

उ०-और समय में भी बदला करते हैं-

सूतके मृतके क्षौरे चाण्डालस्पर्शने तथा।

यज्ञसूत्रनवीनस्य धारणं प्रविधीयते ॥ १ ॥
रजस्वलाशवस्पर्शे म्लेच्छादीनां तथैव च ॥
नारायण संग्रह।

मलसूत्रं त्यजेद् विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक्।
उपवीतं तदुत्सृज्य धार्यमन्यन्नवं तदा।
सायणीये।

उपाकर्मणि चोत्सर्गे गते मासचतुष्टये।
नवयज्ञोपवीतानि धृत्वा पूर्वाणि सन्त्यजेत् ॥
जीर्णयज्ञोपवीतानि शिरोमार्गेण सन्त्यजेदिति॥
मा० वा०श्रा०सू० ॥

जन्माशौच, मरणाशौच, चाण्डालस्पर्श, रजस्वला तथा म्लेच्छादि अस्पृश्यस्पर्श शवस्पर्श, और चिताधूम स्पर्श में तथा कान पर बगैर चढ़ाये मलमूत्रोत्सर्ग करने पर किसी पाप विशेष के प्रायश्चित्त में उपाकर्म तथा उत्सर्गमें, चारमास बीत जाने पर और सन्ध्या छूट जाने पर नूतन यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये। पुराने यज्ञोपवीत को शिर के रास्ते उतारना चाहिये।

मदनपारिजातमें भी यही लिखा है कि—"छेदे विनाशे वा सूतकमृताशौचान्ते मलमूत्रसंसृष्टे ह्युपवीतं जीर्णं वा, खदिरदग्धितटाकाद्यन्यतमोदके समुद्रं गच्छ स्वाहेति मन्त्रेण प्रणवेन व्याहृतिभिर्वा विसृजेत्,"

टूटनेपर या निकल जानेपर सूतक या पातकके अन्तमें मल मूत्र से संसर्ग हो जाने पर या पुराना होजाने पर यज्ञोपवीत को नदी, समुद्र, तालाब आदि जलाशयोंमें "ओं समुद्रं गच्छ स्वाहा" इस मन्त्र से केवल "ओ३म्" यह कह कर या "भूर्भुवः स्वः" इन व्याहृतियों से विसर्जित कर दे(१)।

प्र०–भगवन्! पीछे धारणविधि में आपने दो यज्ञोपवीत पहनने को कहे, दो यज्ञोपवीत से क्या तात्पर्य है? और यह भी सप्रमाण बतलाने की कृपा करें कि यज्ञोपवीत एकमात्र कपास का ही होता है या और भी किन्हीं वस्तुओं का?

उ०—यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि।
तृतीयमुत्तरीयार्थे वस्त्राभावे तदिष्यते॥ हेमाद्रिः।

अर्थात्—श्रौत और स्मार्त्त कर्मों की निष्पत्ति के लिये दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहिये। यज्ञोपवीत धारण सङ्कल्प में भी "श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थम्" आ० सू०। यही पढ़ा जाता है। कर्म में बैठा पुरुष वस्त्र के अभाव में कहीं—जैसे कि दक्षिणियों में अब भी यह परिपाटी पाई जाती है-

नोट १—उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च।
उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्॥
मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
भिन्नं क्षिप्त्वाप्सु गृह्णीयान्नवं मन्त्रेण कोविदः॥

तृतीय भी यज्ञोपवीत धारण कर लिया करते हैं। परन्तु सर्व-तन्त्र सिद्धान्त यही है कि दो यज्ञोपवीत धारण करे। दो यज्ञो-पवीत से तात्पर्य नौसूती डोरे का एक और फिर नौसूती डोरे का दूसरा, इस प्रकार ३-३ लड़वाले-दो जनेऊ-जिनके कि ६ लड़ होते हैं-धारण करे। कई एक पाश्चात्यशिक्षा से विक्षि-प्तमस्तिष्क हिन्दूधर्म के मर्म से अनभिज्ञ लोग यह भी कहते सुने गये हैं कि दूसरा जनेऊ स्त्रियों का है जिसे पुरुषों ने स्त्रियों से छीन रक्खा है लेकिन अब वापिस नहीं करते, लेकिन यह उनकी नितान्त अल्पज्ञता है जिसका वर्णन कि पूर्व किरण में कर आये हैं। शास्त्रों में साकार विराट् का नाम यज्ञ है और निराकार को ब्रह्म कहते हैं दोनों को प्राप्त कराने से इस सूत्र के खास कर "यज्ञसूत्र" और "ब्रह्मसूत्र" ये दो नाम हैं। सो उभयविध ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से तथा श्रौत और स्मार्त कर्मों की निष्पत्ति का मूल होने से ही दो यज्ञोप-वीत धारण करते हैं न कि एक स्त्री के हिस्से का। "एकमेव यतीनां स्यात्" यहां पर यति शब्द से ब्रह्मचारी लेना क्योंकि संन्यासियों को सूत्रविधान नहीं। लिखा भी है-"ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातस्य द्वे बहूनि वा" आ० सू०। उपनयन वेदी में वटु को एक ही यज्ञोपवीत दिया जाता है, दूसरा समाव-र्त्तन की वेदी में मिलता है। मदनपरिजात में देवल ऋषि कहते हैं—

कार्पासक्षौमगोवालशणवल्कतृणोद्भवम् ।
सदा सम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः ॥

द्विजातियों को कपास, क्षौम (रेशम) गोवाल, शण और वल्कतृण का भी चाहे धारना पड़े तब भी विना यज्ञोपवीतके न रहें। इसी के जोड़ का श्लोक मनुस्मृति में भी है—

कार्पासमुपवीतं स्याद् विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् २।४४॥

ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का शण के सूत का और वैश्य का भेड़ के ऊन का हो, सम्भव है यह प्रथा किसी काल में प्रचलित रही हो, जिससे कि वर्णभेद प्रतीति में अड़चन न पड़ती रही होगी, तथा क्षत्रियों के आधीन बल सम्बन्धी काम होने से उनका जनेऊ भी अधिक पुष्ट होना चाहिये इस विचार से शण का नियत किया गया हो, लेकिन यह कपास के अभाव में ही विहित हो सकता है, देवलर्षि के वचन की नारायणोपाध्याय ने भी यही संगति लगाई है। निर्णयसिन्धु आदि धर्मग्रन्थों में—

कृते पद्ममयं प्रोक्तं त्रेतायां कनकोद्भवम् ।
द्वापरे राजतं प्रोक्तं कलौ कार्पाससम्भवम् ॥

उपलब्ध इस श्लोक से भी कलियुग में तीनों वर्णों को कपास के ही यज्ञोपवीत का विधान मिलता है, और प्रचलित

भी कहा है । कूर्मपुराण के १२ वें अध्याय में भी कपास की उत्पत्ति मुख्यतया बताई ही यज्ञोपवीत के लिये है-"कार्पास मुपवीतार्थं निर्मितं ब्रह्मणा पुरा" एक लेखक लिखता है कि चांदी सोनेके भी अनेक खुद मैंने अमृतसर में बिकते देखे हैं।

प्र०-मान्यवर ! श्रीमान् ने यज्ञोपवीतधारणविधि तो बता दी लेकिन कमीज या माला आदि की भाँति गलेमें या कंकण की तरह हाथ पर अथवा पतलून या पेटी की तरह कमर पर तात्पर्य शरीर के किस अङ्ग पर पूर्वोक्त विधि के अनुसार धारण करें ? और क्यों ? तथा काल विशेष या अवस्था विशेष पाकर उस अङ्गसे परिवर्तित भी किया जासकता है या नहीं? इत्यादि मेरे प्रश्नों का समाधान कृपया सप्रमाण और विज्ञान प्रदर्शन पुरस्सर कीजिये; महती कृपा होगी ।

उ०-तुम्हारे पूछने का अभिप्राय हम समझ गये हैं अब विस्तार पूर्वक शास्त्रप्रमाण और विज्ञान (Philosophy) सहित उत्तर सुनो । शास्त्राज्ञा है कि—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

बौधायनस्मृति ॥

द्विजवर्ण का कर्त्तव्य है कि सदा उपवीती होकर और शिखा को बांधकर रहे शिखा सूत्रहीन होकर वह जो कुछ भी सत्कर्म करता है वह न किये हुयेके ही समान होताहै सूक्ष्मता

से विचार करने पर प्रतीत होजायगा कि यज्ञोपवीत, शिखा और कौपीन का सम्बन्ध क्रमशः देव, ऋषि और पितरों से है, इन्हीं के संयत भाव से रखने पर मनुष्य यज्ञ, स्वाध्याय और विशुद्ध सन्तान की प्राप्ति द्वारा देवर्षि पितृ-ऋण से मुक्त होता है। महाभारत (उद्योगपर्व-प्रजागरप०अ० ४०)में भक्त विदुर जी महाराज धृतराष्ट्र से कहते हैं कि-

'नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी । सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन् न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥'

हे राजन् ! नित्यप्रति देव ऋषि और पितृकर्म करने वाला पतितों के अन्न को न ग्रहण करने वाला, सत्यवादी और यावन्मात्र कर्म गुरु के निमित्त करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मलोक से च्युत नहीं होता। यही श्लोक कुछ पाठभेद से वशिष्ठस्मृति अ० ८ में भी आता है। अस्तु, सदा उपवीती होकर रहने की आज्ञा "उपवीती भवेन्नित्यं विधिरेषः सनातनः" सर्वत्र है, लेकिन पितृकर्म और ऋषि कर्म में प्राचीनावीती और निवीती होना पड़ता है। मनुस्मृति अ० २ श्लोक ६३ में लिखा है कि—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते बुधैः ।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥

अर्थात्-जब जनेऊ को वाम स्कन्ध से पृष्ठ और नाभि प्रदेश को स्पर्श करता हुआ कटिपर्यन्त धारण किया जाय और दक्षिण हाथ को बाहर निकाल लिया जावे तो द्विज -उपवीती' कहलाता है । इसे 'सव्य' भी कहते हैं देवकर्म में और सदा ही इस प्रकार 'उपवीती' होकर रहने का विधान है । पितृकर्म करते समय जब जनेऊ को दायें कन्धे पर कर बायें हाथ को बाहर निकाल लिया करते हैं, 'प्राचीनावीती' जिसे 'अपसव्य' भी कहते हैं-होना चाहिये और मनुष्य कर्म में जनेऊ को माला की भान्ति कण्ठीकृत कर लेना चाहिये, इसे ही 'निवीती' कहते हैं । देव, पितृ और ऋषिकर्म में क्रमशः उपवीती, प्राचीनावीती, और निवीती होने का विधान समस्त श्रुति स्मृति ग्रंथों में विहित है---

"कृतोपवीती देवेभ्यो निवीती च भवेत्ततः ।
मनुष्यांस्तर्पयेद् भक्त्या ऋषिपुत्रानृषींस्तथा ॥
आह्निकतत्त्व ॥ प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा । पित्र्यमानिधनात् कार्यं विधिवद्-दर्भपाणिना,, ॥ मनु० ३ । २७९ ॥

व्यास स्मृति (३ अ० १३ से १७ श्लोक तक) में भी यही आज्ञा है । यह क्यों ? और किस लिये किया जाता है ? यद्यपि आस्तिक कर्मठ हिन्दू को तो इसके उत्तर में शास्त्रप्रमाण ही पर्याप्त है । उन्हें क्यों ? का रोग छूता ही नहीं और उचित

भी यही है कि "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" गी०—कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में शास्त्राज्ञा को ही श्रद्धा से शिरोधार्य बनावे। क्यों? के रोगियों को "हैतुक" कह कर शास्त्र ने उपेक्षा बुद्धि से देखा है। यह ठीक है कि- "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" तर्क से धर्म विचार करना लिखा है(१) लेकिन वह तर्क "वेदशास्त्राविरोधिना" मनु० १२।१०६॥ वेद और शास्त्र के अनुकूल होना चाहिये। शुष्क तर्क की तो 'तर्कोऽप्रतिष्ठानात्" कह कर निन्दा की है। और ऐसे तार्किकों को हुज्जतबाज कह उपेक्षादृष्टि से देखा है। सब जगह तर्क ही भी नहीं भिड़ाया जाता। कहा गया है—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्, ॥

अर्थात्-जो पदार्थ (बातें) इन्द्रियातीत हैं और इसलिये जिनका चिन्तन नहीं किया जाता उनके साथ हरवक्त तर्क को नहीं भिड़ाते रहना चाहिये। मूल प्रकृति से भी परे जो पदार्थ हैं वह इस प्रकार अचिन्त्य है" यही बात महाभारत (भीष्म

नोट १—युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥ वसिष्ठ।
केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते॥ बृहस्पति।

प० ५१२) में भी कही गई है। ऐसी दुरूह बातों के लिये एक मात्र शास्त्रों की ही शरण लेनी पड़ती है। शास्त्रों में वर्णन भी बहुलता करके ऐसीही बातों का जो कि योगगम्य हों-होता है और शास्त्र की विशिष्टता भी यही है

'सर्वस्य लोचनं शास्त्रं परोक्षार्थस्य दर्शकम्॥

तथापि डारविन साहब की थ्यूरी को पढ़ कर दुष्टवाद ग्रिय पाश्चात्य शिक्षा से विकृतमस्तिष्क लोगों की भी सन्तुष्टि के लिये शास्त्रीय गम्भीर गवेषणा के साथ २ सुगम संक्षिप्त और समुचित रीति से यत्किञ्चित लिखते हैं-

जब परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में लोक लोकान्तरस्थों की व्यवस्था बांधने लगे तो उस समय प्रजापति के सन्मुख प्राणिसमुदाय जिस २ मुद्रा से उपस्थित होकर अपने २ निर्वाह की व्यवस्था मांगने लगे थे, उसी २ मुद्रा से उनको भोजन प्राप्ति की व्यवस्था भी जगदीश्वर ने करदी थी, इसी व्यवस्था के अनुरूप देवर्षिपितृकर्म करते समय यज्ञोपवीत सव्य, निवीत और अपसव्य रूप में धारण किया जाता है। जिसका वर्णन वेदों में निम्नलिखित प्रकार से है—

"प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् प्रजा वै भूतानि विनोधेहि यथा जीवामेति, ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्ता:

ब्रवीद् यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्क् सूर्यो वो ज्योतिरिति ॥ १ ॥

"अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद् मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति॥२॥

अथैनं मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदंस्तानब्रवीद् सायं प्रातर्वोऽशनं प्रजा वो मृत्युः रग्निर्वो ज्योतिरिति ॥ ३ ॥ यजु० शत० कां० २ प्र० ३ ब्रा० ४ ॥

पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणां तस्मादपराह्णे ददाति ॥८॥

अर्थात्–आदि सृष्टि में प्राणिवर्ग प्रजापति के सम्मुख उपस्थित होकर प्रार्थना करने लगे कि भगवन्! हम तुम्हारी प्रजा हैं, हमारी रक्षा कीजिये। सब से प्रथम देवता लोग यज्ञोपवीती होकर दक्षिण जानुको झुकाकर उपस्थित हुये, उनसे ब्रह्माजी ने कहा–यज्ञ तुम्हारा अन्न होगा, तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी, तुममें बड़ा बल होगा और सूर्य तुम्हारी ज्योति होगी॥१॥

अनन्तर अपसव्य होकर तथा वाम जानु झुकाकर प्रजापति के सम्मुख पितर उपस्थित हुये, इनसे प्रजापति ने कहा–महीने २ तुम्हें भोजन मिला करेगा, स्वधा तुम्हारा अन्न होगा, तुम मनोजव होगे और चन्द्रमा तुम्हारा ज्योति होगा ॥२॥

इसके अनन्तर निवीती होकर पलथी मारकर मनुष्य उप-

स्थित हुये, उनसे प्रजापति ने कहा-सायं प्रातः तुम्हें भोजन मिलेगा। तुम्हारी सन्तान होगी तुम्हारी मृत्यु होगी, अग्नि तुम्हारा ज्योति होगा ॥ ३ ॥

पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न क्रमशः देवता, मनुष्य और पितरों का कहलाता है। तात्पर्य—जिस उपरिलिखित प्रकार से देवता, पितर और ऋषि आदि सृष्टिमें क्रमशः यज्ञोपवीती प्राचीनावीती और निवीती होकर तथा दक्षिण, वाम जानु गिराकर व पल्थी मार कर ब्रह्मदेव के सन्मुख उपस्थित हुये थे आज भी हम उसी प्रक्रिया से देव, ऋषि पितृकर्म को करते हैं। और इस प्रकार की यज्ञोपवीत व शरीर की प्रक्रिया से फ़ौरन पता लग जाता है कि अमुक मनुष्य इस समय अमुक कर्म में प्रवृत्त है। जिस प्रकार लौकिक भार को भी कन्धों से ही धारण किया जाता है इसी प्रकार जन्मसिद्ध देवर्षि पितृ ऋण के भार-सूचक यज्ञोपवीत को भी द्विजाति कन्धों से ही धारण करता है।

भला! तैरते समय जिस व्यक्ति के दोनों कन्धों पर भी भार हो और गले में भी सौ मन पक्का पत्थर बांध दिया जाय तो वह बेचारा पार किस प्रकार हो सकेगा? ठीक वही गति उस व्यक्ति की भी समझो जिसने कि उपरोक्त तीन ऋणोंको पूर्वोक्त विधि से चुका न दिया हो।

(२) गोलाध्याय के गोलबन्धाधिकार श्लो० ५ और ११ में क्रमशः विषुवन्मण्डल और क्रान्तिवृत्त का भास्कराचार्य ने वर्णन किया है। अमरकोष १ म कां० कालवर्ग में लिखा है कि—"समरात्रिन्दिवे काले विषुवद्विषुवं च तत्" ॥ १४। जिस (काल) में रात, दिन बराबर होते हों वह विषुवत कहलाता है और वह "तुलासंक्रान्तौ मेषसंक्रान्तौ च दिनरात्री

समे भवतः" तुलासंक्रान्ति और मेषसंक्रान्ति विषुवत् (१) कहलाती हैं क्यों कि इनमें दिन, रात ठीक बराबर ३०—३० घड़ी के होते हैं। सूर्य एक दिन दक्षिणायन और १ दिन उत्तरायण में तुला और मेष संक्रान्ति के करीब २२ दिन पहिले विषुवद्वृत्त पर दिखता है। विषुवद्वृत्त के ठीक नीचे लङ्का है।

"लङ्काकुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमकपत्तनञ्च। अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः सौम्येऽथ याम्ये बड़वानलश्च,, ॥

गोलाध्याये भास्कराचार्याः।

लङ्का पृथ्वी के मध्य में है उससे पूर्व यमकोटि, पश्चिम में रोमकपत्तन और नीचे सिद्धपुर माना है। गोलाध्याय के ही भुवनकोश के २ अ० में लिखा है कि—

लङ्कापुरेऽर्कस्य यदोदयः स्यात् तदा दिनार्धं यमकोटिपुर्याम्। अधस्तदा सिद्धपुरेऽस्तकालः स्याद्रु रोमके रात्रिदलन्तदैव। ४४॥

जिस समय लङ्का में सूर्योदय होता है उस समय यमकोटि में दोपहर सिद्धपुर में अस्तवेला और रोमक नगर में रात्रि होती है। अस्तु,

खगोल के मध्य सूर्यगमन के लिये तिरछी-गोल रेखा को क्रान्ति कहते हैं:—

अयनादयनं यावत् कक्षा तिर्यक् तथा परा।

नोट—१—२ "मृगकर्कटसंक्रान्ती द्वे तूदग्दक्षिणायने। विषुवती तुलामेषे गोलमध्ये तथा पराः॥ तिर्यादितरन्म्।

क्रान्तिसंज्ञा तथा सूर्यः सदा पर्यैति भावयन् ॥ सू०सि०

(२) कर्कवृत्तसे रेखा मकरवृत्ततक और मकरवृत्तसे कर्कवृत्त तक होती है तो पितृकर्म और देवकर्म होते हैं। विषुवद्वृत्तसे दक्षिण और उत्तरमें जो वृत्त होता है वह क्रान्तिवृत्त कहलाता है। यज्ञोपवीत भी दक्षिण(अपसव्य)और उत्तर (सव्य) करने से इसी की अनुकृति बन जाता है लेकिन कण्ठीकृत करने से विषुवद्वृत्त की भांति बन जाता है इसे ही 'निवीती'भी कहते हैं। गायत्री का देवता सविता (सूर्य) है सन्ध्या का भी सम्बन्ध सविता से ही है। सन्ध्या सूर्याभिमुख होकर ही करनी विहित है, तो यज्ञोपवीत की भी सूर्यगति से सम्बन्ध की सूक्ष्मता सचमुच महत्त्वजनक और विचारणीय है।

(३) ब्रह्मपुरुष परमेष्ठी के शरीर में सूत्रात्मा प्राण का ९६ वस्तु (१) रूप राशिचक्र कन्धे से कटि पर्यन्त यज्ञोपवीत की भांति पड़ा हुआ है यह पहले ही लिख आये हैं। इस राशिचक्र संवत्सर के दो भाग हैं एक दक्षिणायन और दूसरा उत्तरायण इन्हीं को पितृयान, देवयान अथवा दक्षिण मार्ग और उत्तरमार्ग भी कहते हैं। वेद में पितृलोक का वर्णन दक्षिण में है अतएव पितृ सम्बन्धी समस्त कर्मकलाप दक्षिणाभिमुख होकर ही होता है, जनेऊ भी दक्षिण स्कन्ध पर किया जाता है। राशिचक्र संवत्सरके उत्तर भागमें देवताओं का निवास है। देव सम्बन्धी कर्म उत्तर नाम वाम कन्धे पर यज्ञोपवीत करकेही करते हैं। और सदा वाम कन्धेपर ही इस वास्ते रखते हैं कि देवकर्म सदा होता रहे।

नोट—१ 'तिथिर्वारश्च नक्षत्रं तत्त्वं वेदा गुणत्रयम्।
काळत्रयञ्च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्"

जिस प्रकार असली झील, टापू, नदी, नद, नगर, समुद्र, पर्वत आदि को समझने और समझाने के लिये तदनुकृति नक़शे की सहायता ली जाती है और उस नक़शे के आधार पर उस वस्तु के आयाम, व्याम आदि का ज्ञान कराया जाता है जिसका कि वह नक़शा हो, ठीक इसी प्रकार देवयान और पितृयान (२) की स्थिति देवकर्म और पितृकर्म में यज्ञोपवीत की सव्य और अपसव्य प्रक्रियासे जतलाई जाती है। जिस प्रकार रेलवे स्टेशन के सिगनल अथवा फौजी या जहाजी झण्डे की क्रियाविशेषसे भावविशेष सूचित होता है एवं भूखे या प्यासे व्यक्ति की चेष्टा विशेष से उसके हृद्गत भावों का पता लगाया जाता है, इसी प्रकार देव पितृकर्म में यज्ञोपवीत की सव्यापसव्य प्रक्रिया विशेष भी उन्हीं उत्तर और दक्षिणमार्गों की निदर्शक एवं भावसूचक है कि जिनके द्वारा अन्त में ज्ञानकाण्डी और कर्मकाण्डियों को इस संसार से देवलोक और पितृलोकमें जाना पड़ता है और जिनका वर्णन वेदादि सच्छास्त्रों में विस्तार से है।

छान्दोग्य-उपनिषद् ५, ४-६ में "पञ्चाग्निविद्या" के नाम से एक प्रकरण आया है इसकी विवेचना है तो गम्भीर और विस्तृत लेकिन हम उसका यहां संक्षिप्त तथा सरल परिचय देंगे। वहां लिखा है—"इतितु पञ्चम्यामाहुतो आपः पुरुष-

---

२—देवयान और पितृयान का विस्तृत वर्णन वे०सू० ४,२,१९,२१,३,१ ६,४,२,४॥ बृहदा० ६,१०, ६२, १२, छान्दो० ५,१०,कौषी १,२,म, भा० शा० १७, १९, १६ ऋग्वेद १०, ८८, १९, निरुक्त १४, ९, इत्यादि आर्षग्रन्थों में देख सकते हैं। म० भा० भी० १२० यनु० १६० में पितामह भीष्म का शरशय्या पर उत्तरायण सूर्य की प्रतीक्षा का वर्णन है।

वचसो भवन्ति" अर्थात् इस प्रकार पांचवीं आहुति में जल पुरुष-रूप होजाते हैं। इसके पूर्व पाँच अग्नियों का विस्तृत वर्णन है और साथ ही यह भी बताया है कि यथाक्रम प्रत्येक अग्नि में पहुँचकर अग्नि में जल को पुरुष का रूप कैसे प्राप्त होता है इन पांचों अग्नियों और उनकी आहुति आदिका परिचय इस प्रकार है—

आरुणि गौतम ने राजा जैबलि से पञ्चाग्निविद्या की जिज्ञासा की उन्होंने उत्तर दिया कि सबसे प्रथम अग्नि यही द्युलोक है—

"असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥२॥"

अर्थ-हे गौतम ! यह द्युलोक अग्नि है। आदित्य (सूर्य) उसकी समिधा है। किरणें धूम हैं और दिन उसकी अर्चि (ज्योति—लपट) है। चन्द्रमा उसका अङ्गार और तारागण विस्फुलिङ्ग (अग्निकण) हैं। इस अग्नि में देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते हैं। उससे राजा सोम (चन्द्रमा) उत्पन्न होता है।

यह आलङ्कारिक वर्णन है इसका तात्पर्य समझनेके लिये उपमान और उपमेय के साधारण धर्मों पर ध्यान देना पड़ेगा। समिधा अग्नि को दीप्त करनेका साधन है। उसी से अग्नि दीप्त होती है द्युलोक को दीप्त कौन करता है ? सूर्य। इसी कारण सूर्य को यहां समिधा कहा है। अग्नि में समिधा डालने पर

पहले उसमें से धूम निकलता है, फिर लपट उठती है। लपट के शान्त होने पर अङ्गार और अग्नि-कण शेष रहते हैं एवं समिधा से प्रदीप्त अग्नि में जो आहुति दी जाती है, उसका कुछ फल अवश्य होता है। उसी फल के लिये वह आहुति दी जाती है। द्युलोक रूप अग्नि में जब आदित्य रूप समिधा पड़ी तो उसमें से अनेक रङ्ग की (नीली, पीली, लाल) किरणें निकलीं। यही उस समिधा का धूम हुवा, और दिन का श्वेत प्रकाश उस समिधा को अर्चि ज्योति) हुई। इस अर्चिके शान्त होने पर अर्थात् दिन समाप्त होने पर चन्द्रमा और तारोंके दर्शन हुये। इन्ही को अङ्गार और विस्फुलिङ्ग बताया।

अङ्गार की उत्पत्ति समिधा से होती है और चन्द्रमा की उत्पत्ति सूर्य से। सूर्य की सुषुम्ना नामक किरणों से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसका अपना प्रकाश नहीं है। इसीसे यहां चन्द्रमा को सूर्य का अङ्ग बताया है। इस अग्नि में देवता लोग 'श्रद्धा, की आहुति देते हैं। यहां 'श्रद्धा" से क्या मतलब? आत्मा या मन के जिस धर्म को श्रद्धा कहते हैं उसकी आहुति देना सम्भव नहीं। श्रद्धा कोई ऐसी वस्तु नहीं जो शरीर से खींच कर निकाली जा सके या उसकी आहुति दी जा सके। फिर श्रद्धा क्या है? ब्रह्मसूत्र, तृतीय अध्याय के प्रथम चरण के आरम्भ में ही शारीरिक भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने इस प्रश्न की विवेचना की है। वहां पांचवें सूत्र के भाष्य में लिखा है-'श्रद्धा'शब्द वैदिक साहित्य में जल के लिये प्रयुक्त होता है। "श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिक प्रयोग दर्शनात्—श्रद्धा वा आपः इति"

इसी प्रकरण में जीव की उत्तरगति और दक्षिणगति का भी विचार किया है। छान्दोग्योपनिषद् ५-१० में भी इसको

चर्चा है। वहां लिखा है कि जो अरण्य में रहने वाले--वानप्रस्थ संन्यासी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी-श्रद्धा पूर्वक तपस्या करते हैं उन्हें उत्तर-गति प्राप्त होती है। वे (मरने पर) सूर्य की किरणों द्वारा आदित्य लोक में पहुँच कर वहाँ से ब्रह्मलोक या ब्रह्मरूप को प्राप्त होते हैं,और जो लोग गृहस्थ रहकर यज्ञ, होम, दान आदि धर्म कृत्यों का अनुष्ठान करते हैं, वे (मरने पर) यज्ञ धूम की अभिमानिनी देवता के द्वारा पितृलोक में पहुँचते हैं, और वहां से चन्द्रलोक (स्वर्ग) में जाते हैं। वहाँ अपने शुभ कर्मों का उपभोग करने तक रहते हैं और इसके अनन्तर फिर जन्म लेते हैं। परन्तु उत्तर गति से गये हुये लोग फिर नहीं लौटते। देखिये—

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासा ᳬस्तान्······इत्यादि······स एनान् ब्रह्म गमयति-एष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

"अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासा ᳬस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति·········तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते,, ॥

भगवद्गीता के आठवें अध्याय में इन्हीं दोनों-उत्तर-गति

और दक्षिण-गति-को शुक्ल गति और कृष्ण गति कहा है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति-र्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

जो लोग ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) नहीं हैं, बल्कि गृहस्थ आश्रम में रहकर यज्ञ, हवन आदि नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, उनके अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास आदि धार्मिक कृत्यों में घी, दूध, दही आदि पतले द्रव्यों में जो प्रत्यक्ष जल का अंश है, वही आहुति देने पर अतिसूक्ष्म अपूर्व-नामक संस्कार-के रूपको प्राप्त होकर इन जीवोंके साथ लोकान्तर (स्वर्ग आदि) में जाता है। एक शरीर छोड़ने पर दूसरे लोक को जाता हुआ जीव इन्द्रिय आदि की तरह इन सूक्ष्म जलीय अंशों से भी परिवेष्टित रहता है, और यही इसके अगले कर्म फल-भोग का निमित्त बनते हैं। यही बात पूर्वोक्त पञ्चाग्नि विद्या के प्रकरण में "श्रद्धां जुह्वति" से कही गई है। देवता लोग जिस श्रद्धा की आहुति देते हैं, वह वही यज्ञ होम आदि में उपयुक्त होने वाला घी, दूध, दही आदि द्रव्यों का जलीय अंश है। यही आहुति देने पर सूक्ष्म रूप से सूर्य की किरणों के द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँच कर ज्योति और वर्षा आदि का कारण होता है। यही बात ब्रह्मसूत्र ३-१-६ के शारीरिक भाष्य में इस प्रकार लिखी है:—

"तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूत दधिपयः-प्रभतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात्प्रत्यक्षमेवाऽऽपः सन्ति। ता आहवनीये हुताः

सूक्ष्मा आहुत्योऽपूर्वरूपाः सत्यः तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च शरीरं नैवनेन विधानेनान्त्येऽन्त्यावृत्विजो जुह्वति "असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा,, इति। ततस्ताः श्रद्धापूर्वकर्मसमवायिन्यः आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्ट्य अमुंलोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोति नाऽभिधीयते "श्रद्धां जुह्वति,,इति।

जो लोग गृहस्थ हैं सन्तान आदि उत्पन्न करते हैं, उन्हीं के लिये श्राद्ध, पिण्डदान आदिकी आवश्यकता होती है। श्रद्धा का अर्थ जल है, और श्राद्ध में जल, दूध आदि के रूप में इस का प्रयोग होता है। परलोक में गये जीव के शरीर में सूक्ष्म रूपसे इनका कैसा उपयोग है, यह बात अभी कही जाचुकी है।

देवता या पितरों को खाने पीने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि यज्ञ, श्राद्ध आदि को देखकर ही वे तृप्त (१) होते

नोट–१ मनुष्यलोक के देवलोक व पितृलोक दोनों से सम्बन्ध सूचक समकक्ष शब्द शास्त्र व सर्वसाधारण में निम्नलिखित प्रकार से प्रचलित हैं—

देवलोक	पितृलोक
अग्नि	ब्राह्मण
यज्ञ	श्राद्ध
स्वाहा	स्वधा
हव्य	कव्य
शुक्ल	कृष्ण
उत्तरायण	दक्षिणायन
इन्द्र	यम

मनुष्यलोक

हैं, और उसके अति सूक्ष्म रूप उन तक पहुँचते हैं। दक्षिण मार्ग से जाने वाले पहले वसु, रुद्र, आदित्य इन तीन श्रेणियों को पार करते हैं, और बाद में मरुत्, साध्य नाम की दो श्रेणियों के अनन्तर ब्रह्मरूप को प्राप्त होते हैं।

उत्तर-मार्ग से जानेवालों की तरह ये आवृत्तिशून्य नहीं हैं। बीच में इनका जन्म भी हो सकता है और होता है। हां उक्त पाँच श्रेणियों को पार करजाने के बाद फिर इनका जन्म नहीं होता, और तीन श्रेणियां पार कर जाने के बाद इन्हें पुत्र-आदि के किये श्राद्ध आदि की सहायता की भी आवश्यकता नहीं रहती। वसु, रुद्र, आदित्य इन तीन ही श्रेणियों में श्राद्धादि अपेक्षित होता है। इसी से श्राद्ध के समय संकल्प में पिता, पितामह और प्रपितामह को क्रम से वसुस्वरूप, रुद्र-स्वरूप, और आदित्यस्वरूप कहा जाता है। इसी प्रकार मातामह आदि की तीन पीढ़ियों को कहा जाता है। वैदिक साहित्य में मनुष्य के शरीर को षाट्कौषिक कहा है। इसमें छः पीढ़ियों का अंश कोष रूप से जमा रहता है। तीन पीढ़ी पितृपक्ष की और तीन पीढ़ी मातृपक्ष की, इन छः का कोष वा ऋण मनुष्य के शरीर में विद्यमान रहता है। उसके उद्धार के लिये ही इन छः पीढ़ियों का श्राद्ध, पिण्डदान आदि अपेक्षित होता है।

पूर्वोक्त बात छान्दोग्य उपनिषद् ३ अ० ६, ७, ८ खं० में इस प्रकार कही है—

तद् यत्प्रथममृतं तद् वसव उपजीवन्त्य-ग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येत-देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥ त एतदेव रूपमभि-

संविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २।……अथ यद्
द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन
न वै देवा……अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या
उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा,, ।

इस प्रकार इस प्रकरण से यह स्पष्ट हुआ कि उत्तरगति और दक्षिणगति से जीव परलोक में जाता है। उत्तरगति से जाने वाले एक दम मुक्त हो जाते हैं और दक्षिण मार्गसे जाने वाले वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं (पितरों) की श्रेणियों को क्रम से पार करते हैं। श्राद्ध आदि की आवश्यकता इन्हीं के लिये होती है और 'श्रद्धा' नामक सूक्ष्म जलीय अंशों के साथ इनका आत्मा लोकान्तर में जाता है। इन्हीं जलीय अंशों को वैदिक साहित्य में 'श्रद्धा' के नाम से कहा जाता है, और पञ्चाग्नि विद्या के पूर्वोक्त प्रकरण "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति" में श्रद्धा शब्द से जलका ही तात्पर्य है। इन सूक्ष्म जलीय अंशों से राजा सोम बनता है, अर्थात् सूर्य की किरणों से खींचे हुये इस जल से चन्द्रमा की शीतल शांत और जल प्रधान किरणें उत्पन्न होती हैं। यह प्रथम अग्नि की बात हुई अब आगे चलिये—

"पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳसम्भवति ॥२॥ छा० उ० ५-५ ।

हे गौतम, दूसरी अग्नि पर्जन्य (बादलों के आरम्भक सूक्ष्म कण या उनकी अभिमानिनी देवता) है। वायु (वर्षा की उपकारक पूर्व की वायु या उसके समान अन्य वायु) उसकी समिधा है। अभ्र (बादल) धूम है विजली अर्चि है, अशनि अङ्गार और गर्जन उसके विस्फुलिङ्ग हैं। इस अग्नि में देवता लोग राजा सोमकी आहुति देते हैं। उससे वृष्टि उत्पन्न होती है तीसरी अग्नि पृथ्वी है उसमें वृष्टिकी आहुति दीजाती है। उससे अन्न पैदा होता है। चौथी अग्नि पुरुष है इसमें अन्न की आहुति दी जाती है। उससे वीर्य पैदा होता है। पांचवीं अग्नि स्त्री है। इसमें वीर्य की आहुति दीजाती है और उससे गर्भ उत्पन्न होता है। इस प्रकार सूर्य की किरणों द्वारा खींचे गये या देवताओं द्वारा आहुति दिये गये जल का यथाक्रम परिवर्तन होते होते पांचवीं आहुति में पहुँचकर जल पुरुष का रूप धारण करता है।

पहिली अग्नि में आहुति देने से जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसी की दूसरी अग्नि में आहुति दीजाती है। इस प्रकार पांचवीं आहुति का परिणाम पुरुषरूप होना है। पहिले द्युलोक में श्रद्धा (जल) की आहुति देने से सोम (चन्द्रमा या उसकी किरण) पैदा हुई। उसकी आहुति पर्जन्य में दीगई, जिससे वृष्टि पैदा हुई वृष्टि की आहुति पृथ्वी में दी गई, जिससे अन्न हुआ। अन्न की आहुति पुरुष के जठरानल में देने से वीर्य बना और उसकी आहुति योषा (स्त्री) रूप अग्नि में देने से गर्भ हुआ। जीव के जन्मान्तर की यह संक्षिप्त कथा है। पूर्वोक्त ब्रह्मसूत्र के प्रकरण से स्पष्ट है कि एक शरीरको छोड़ कर दूसरे शरीर में जाते हुये जीव के साथ वही श्रद्धा-रूप जल का सूक्ष्म भाग जाता है। श्राद्ध में दिये हुये जल, पिण्ड,

आदि की श्रद्धा (जल) भी उसके इसी सूक्ष्म शरीर का उपकार करती है। इसी के साथ पहिले वह सूर्य की किरणों के साथ द्युलोक में जाता है। वहाँ से चन्द्रमा में, उससे मेघोंमें (या अन्तरिक्ष लोक में) वहां से अन्न में, अन्न से वीर्य,में और उससे फिर गर्भ में पहुँचता है। दक्षिण-मार्ग से जाने वाले गृहस्थों का यही क्रम है। अन्न में पहुँचने के बाद फिर अपने २ कर्मों के अनुसार जीवों को स्थावर जङ्गम रूप उत्तम, मध्यम और निकृष्ट योनियां प्राप्त होती हैं।

यह हम पहले कह चुके हैं कि श्राद्ध या पिण्डदान आदि की अपेक्षा इन्हीं दक्षिणमार्गी जीवों को होती है। श्राद्ध का ही दूसरा नाम पितृयज्ञ है देवयज्ञ को हव्य और पितृयज्ञ को कव्य कहते हैं। देवयज्ञके कार्य प्रायः प्रातःकाल से दोपहर तक पूर्वाभिमुख किये जाते हैं और पितृयज्ञ के कार्य मध्याह्न के बाद दक्षिण दिशा की ओर मुंह करके किये जाते हैं। हव्य या देवयज्ञ में यज्ञोपवीत बायें कन्धे पर रखने का नियम है और पितृयज्ञ (श्राद्ध) में दाहिने कन्धे पर। प्रातःकाल से दोपहर तक सूर्य उत्तर-पूर्व दिशा में रहता है। उसकी किरणें दक्षिण-पश्चिम की ओर नीची होती हैं और उत्तर-पूर्व की ओर ऊंची। मध्याह्न के समय यह बात बदल जाती है। उस समय सूर्य दक्षिण दिशा में पहुँचता है और किरणें उत्तर की ओर झुकी रहती हैं। इस समय किरणों का रुख दक्षिणाभिमुख रहता है और पूर्वाह्न में उत्तर-पूर्वाभिमुख है। जिधर सूर्य है उसी ओर किरणें ऊंची होती हैं और पृथ्वी पर से किरणों द्वारा खींचा गया द्रव द्रव्य श्रद्धा आदि उसी दिशा में जाता है। यही कारण है कि उत्तर मार्गसे देवलोक प्राप्त करनेवालों या इन्द्र आदि देवताओं के यज्ञ उसी समय पूर्वाह्न में किये

जाते हैं जब सूर्य की किरणें उत्तर पूर्व की ओर ऊंची हों, अर्थात् उनकी आकर्षण शक्ति से आकृष्ट वस्तु उत्तर-पूर्व दिशा की ओर जा सके। इसी प्रकार पितृलोक--जिसकी स्थिति दक्षिण--दिशा में मानी जाती है—से सम्बन्ध रखने वाले कार्य (श्राद्ध आदि) उस समय (मध्याह्न में) किये जाते हैं, जब सूर्य की किरणें दक्षिण की ओर उन्मुख हों।

पितृलोक की स्थिति दक्षिण में है। पूर्वोक्त दक्षिण गति से परलोक में जाने वाले इसी ओर जाते हैं। इनके लिये श्राद्ध आदि उसी समय किये जाते हैं, जब पृथ्वी परसे सूक्ष्म श्रद्धा (जल) का आकर्षण करने वाली सूर्य की किरणें दक्षिण की ओर उन्नत हों और उसी समय यज्ञोपवीत भी दक्षिण कन्धे पर रख कर दक्षिण की ओर उन्नत किया जाता है। शारीरिक और मानसिक सूक्ष्म शक्तियों को दक्षिण की ओर उन्मुख करने के लिये, उन्हें सूर्य की किरणों के साथ एक दिशा में प्रेरित करने के लिये वैदिक विधि के अनुसार अविगुण कर्म के द्वारा पितृ यज्ञ का विशुद्ध 'अपूर्व' उत्पन्न करने के लिये और उसे दक्षिण दिशा में (पितृलोक में) अवस्थित पितरों तक अविकल रूप से पहुँचाने के लिये पितृ-कार्य के समय यज्ञोपवीत का दक्षिण-स्कन्ध पर रखना आवश्यक है।

जिस प्रकार बेतार का तार भेजते समय एक स्थान की विद्युद् धारा को दूसरे स्थान पर ठीक-ठीक पहुँचाने के लिये बिजली के खम्भों का साम्मुख्य अपेक्षित है उसी प्रकार देवलोक और पितृलोक के कार्यों में भी सूर्य की किरणों के साथ शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का एकमुखीभाव सम्पन्न करना आवश्यक है। जैसे बेतार का तार भेजते समय आकाश में प्रत्यक्ष रूप से न बिजली दीखती है न और कोई विकार

परन्तु उसका प्रभाव ठीक उसी स्थान पर पड़ता है जहां के कर्मो के साथ उसका एकमुखीभाव है इसी प्रकार ठीक-ठीक स्वर वर्णों के द्वारा उच्चारित वैदिक मन्त्रों से उत्पन्न हुई शक्ति हव्य और कव्य के सूक्ष्म जलीय अंशों को सूर्य की किरणों द्वारा अप्रत्यक्ष होनेपर भी अभीष्ट देवताओं या पितरोंतक पहुँचाती है। यज्ञोपवीत का उत्तर या दक्षिण की ओर उन्नत होना उसी कर्म का सहायक अङ्ग है। साधारण दशा में अपने में दैवी सम्पत्ति सञ्चित करने के अभिप्राय से यज्ञोपवीत को उत्तरोन्नत अर्थात् बायें कन्धे पर रखते हैं।

जिज्ञासु,-भगवन्! श्रीमान् की अपार दया से मेरा अज्ञानान्धकार निवृत्त होगया। अब मैं प्रण करता हूँ कि यज्ञोपवीत की-पहिलेकी भान्ति-कदापि अवहेलना न करूंगा, बल्कि इस परम पावन द्विजत्व सम्पादक मन्त्रपूत वैदिक सूत्र के धारण करने में मुझे गर्व है।

प्रियवर! इस थोड़े से समय में जो कुछ भी हमने कहा नितान्त रूक्ष और कठिन होने पर भी तुमने अवगत कर लिया यह देख कर हमें निहायत प्रसन्नता हुई है। भगवान् करे भारत में वे दिन जल्दी आंय जब कि भारतीय गैरों के गोरखधन्धों में न फंसकर अपने स्वरूप को पहिचानें। जननी और जन्मभूमि, जाह्नवी और जनार्दन, गीता गंगा और गौ, भारतीय भाषा और वेष से प्रेम हो। अपने धर्म और धेनु, मान और मर्यादा पर मर मिटने को तैयार हों। अपनी आन और शान पर तन मन धन न्योछावर करना पड़े तो पश्चात्पद न हों इसी में देश का उद्धार, जाति का सुधार, धर्म का प्रचार और प्रसार है। * शमिति *